जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग १५ जुलाइ १९४८ किरण १

प्रोफेसर ए० [illegible], एम ए, डी लिट्
प्रोफेसर गो० खुशाल जैन एम ए, साहित्याचार्य
बाबू कामता प्रसाद जैन, एम आर ए एस डी एल
पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, ज्योतिषाचार्य साहित्यरत्न

जैन सिद्धान्त भवन आरा द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) विदेश में ४।) एक प्रति का १।।)

विषय सूची

जैनपुरातत्त्व और इतिहास विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग १५ | जुलाई १९४८ । श्रावण, वीर नि० सं० २४७४ | किरण १

कदम्ब नरेश रविवर्मा और उनका एक शिलालेख

[ले०—श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन डी० एल० एम० आर० ए० एस० अलीगंज]

कदम्बवंश के राजा लोग कर्णाटक देश के अधिवासी थे। उनका कुल वृक्ष 'कदम्ब' था। उसके कारण वह 'कदम्ब' कहलाये थे। तामिल साहित्य में कदम्बों का उल्लेख कोंगुवानम् देश के 'नन्नन' नामक राज्याधिकारी के रूप में हुआ है। तामिल ग्रन्थकार 'कदम्बु' नाम से भी उनका उल्लेख करते हैं। इनकी राजधानी बनवासी या वैजयन्ती थी। श्री जिनसेनाचार्य जी ने 'हरिवंश पुराण' के सर्ग १७ में लिखा है कि हरिवंश में राजा ऐलेय प्रसिद्ध हुए। उनके वंशज चरम नृप ने वनवासी को बसाया था। कदम्बों का राज्यशासन वर्तमान मैसूर स्टेट के शिमोगा और चितलदुर्ग जिले एवं उत्तर कनारा, धारवाड़ तथा बेलगांव जिलों पर था। प्रारम्भ में कदम्ब वंश के राजा वैदिकधर्मानुयायी थे, परन्तु उपरान्त वे जैनधर्म के श्रद्धालु हुए थे। इन्होंने सन् २५० ई० से ६०० ई० तक राज्य किया था।

बनवासी के इन कदम्ब वंशी राजाओं में रविवर्मा एक प्रसिद्ध नरेश थे। इनके पिता मृगेशवर्मा का स्वर्गवास इनके बाल्यकाल में हो गया था। अतएव इनके चाचा मानधाता वर्मा ने राजकाज को सम्हाला था। युवा होकर रविवर्मा ने राज्यभार सम्हाला था और पूरी अर्द्ध शताब्दि तक (४५० ५०० ई०) शानदार शासन किया था। बनवासी के कदम्ब राजाओंमें वही अन्तिम प्रभावशाली शासक थे। इन्होंने कई संग्राम लड़कर अपने राज्य को समृद्धिशाली बनाया था। उनके चाचा विष्णुवर्मा ने विद्रोह खड़ा किया था, किन्तु रविवर्मा ने बड़ी सफलता से उसका शासन किया था। विद्रोही नष्ट हुए थे। शासन

प्रबंध में उनके छोटे भाई भानुवर्मा ने उनका खूब ही हाथ बटाया था। उनका पुत्र हरिवर्मा उनके पश्चात् शासनाधिकारी हुआ था।

सम्राट् रविवर्मा भी अपने पिता मृगेशवर्मा के समान जैनधर्मानुयायी थे। हल्सी (बेलगाँव) मे प्राप्त हुये उनके दानपत्र से उनकी जैनधर्म में दृढ़ श्रद्धा प्रकट होती है। उसमें लिखा है :—

"महाराज रवि ने यह अनुशासन पत्र महानगर पालासिक में स्थापित किया कि श्रीजिनेन्द्र की प्रभावना के लिये उस ग्राम की आमदनी में से प्रति वर्ष कार्तिकी पूर्णिमा को श्री अष्टान्हिकोत्सव, जो लगातार आठ दिनों तक होता है, मनाया जाया करे; चातुर्मास के दिनों में साधुओं की वैयावृत्य की जाया करे; और विद्वज्जन इस महानता का उपभोग न्यायानुमोदित रूप में किया करें। विद्वत्मंडल में श्री कुमारदत्त प्रधान हैं; जो अनेक शास्त्रों और सुभाषितों के पारगामी हैं, लोक में प्रख्यात हैं, सच्चरित्र के आगार हैं और जिनकी संप्रदाय सम्मान्य है। धर्मात्मा ग्रामवासियों और नागरिकों को निरन्तर जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करना चाहिये। जहाँ जिनेन्द्र की पूजा सदैव की जाती है वहाँ उस देश को अभिवृद्धि होती है, नगर आधि व्याधि के भय से मुक्त रहते हैं और शासक गण शक्तिशाली होते हैं"।

रविवर्मा स्वयं श्रावक के दैनिक कर्म—दान देना और जिनपूजा करना, करते थे और अपनी प्रजा को भी उनको पालने के लिये प्रोत्साहित करते थे, उनका भाई भानुवर्मा भी जिनेन्द्रभक्त था और निरन्तर दान दिया करता था। रविवर्मा सदाही धर्मोत्कर्ष का ध्यान रखते थे। होरमंग नामक स्थान से प्राप्त उनका दानपत्र भी उनकी महानता को बताता है। 'आर्केलाजिकल सर्वे ऑव मैसूर' से हम उसे यहाँ सधन्यवाद उपस्थित करते हैं :—

कदम्ब नरेश रविवर्मा का कोरमंग दान-पत्र

१ सूर्यांशुद्युति परिषिक्त पङ्कजानां शोभां यद्वहति सदास्य पादपद्मम्।

सिद्धम् २ देवानाम्मकुटमणिप्रभाभिषिक्तं सर्व्वज्ञस्य जयति सर्वलोकनाथः॥

३ कीर्त्या दिगन्तरव्यापी रघुरासीन्नराधिपः

काकुस्थतुल्यक्काकुस्थो यवीयांस्तस्य भूपतिः।

४ तस्याभूतनयश्श्रीमाञ्शान्तिवर्म्मा महीपतिः

मृगेशस्तस्य तनयो मृगेश्वर पराक्रमः॥

५　कदम्बामल वंशाद्रे मौलिता मागतो रवि
　　उदयाद्रि मकुटेय दीप्तांशुरिवांशुमान् ॥

६　नृपच्छत्रनकी विष्णुर्हत्यनिष्णुग्य स्वय
　　हिरण्मयचलन्मालत्यचाचमविभावित ॥

७　साम्राज्ये नन्दमानोपि न माद्यति परंतप
　　श्रीरेपा मदयत्यन्यानतिपातर वारुणी ॥

८　नर्म्मदं तम् महीं प्रीत्या यमाश्रित्याभिनन्दति
　　कौस्तुभाभारुणच्छाय वक्षो लक्ष्मीर्हरेरिव ॥

९　रणावधि जयन्तीयः सुरेन्द्रनगरीं श्रिया
　　वैजयन्ती चलचिन वैजयती विराजते ॥

१०　रवेर्भुजाङ्गदासीन चदनप्रीतमानसा
　　तथा श्रीन्नभिवरप्रीता मुरारेरपि वक्षसि ॥

११　निग्वानसुमति नाथ नाथते नय गोविदम्
　　धौरिव द्र ज्वलद्वज्रदीप्तिशेरकिताङ्गदम् ॥

१२　यम्य मूर्ध्नि स्वय लक्ष्मीहेमकुम्भोदर च्युतैः
　　राज्याभिषमकरो दम्भोजशात्र्लेर्ज्जलैं ॥

१३　रघणालम्बितामौली कुण्डो गिरिरधारयत्
　　रवेराज्ञा वहत्यद्य मालामिव महीधर ।

१४　यम्मात्य हरिदत्तेन सोय विज्ञापितो नृप ॥
　　स्मितज्योत्स्नाभिषिक्तेन वचसा प्रत्यभाषत ॥

१५　चतुस्त्रिंशत्तमे श्रीमद्राज्यवृद्धिसमासमा
　　मधुर्म्मासस्तिथि पुण्या शुक्लपक्षश्च रोहिणी ॥

१६　यदा तदा महाबाहुरामधामपराजित
　　सिद्धायतन पूजार्थं सघस्य परिवृद्धये ॥

१७　सेतोरपलकस्यापि क्षेत्रमणश्रितां महीम्
　　अधिकारिनिवर्त्तनान्येन दत्तवां स्वामरिन्दम ॥

१८ आसन्दी दक्षिणस्याथ सेतोः केदारमाश्रितम्
राजमानेन मानेन क्षेत्रमेक निवर्त्तनम् ॥

१९ समणे सेतुबंधस्य क्षेत्रमेक निवर्त्तनम् ।
तत्रापि राजमानेन वेटिकौटे त्रिनिवर्त्तनम् ॥

२० उञ्छादिपरिहर्त्तव्ये समाधिसहितं हितम् ।
दत्तवां श्श्री महाराजस्सर्व्वसामंतसंनिधौ ॥

२१ ज्ञात्वा च पुण्यमभिपालयितुर्व्विशालं
तद्भंगकारणमितस्य च दोषवत्ताम् ॥

२२ .. श्रमस्खलित संय्यमनैकचित्ताः ।
संरक्षणेस्यजगतो पतयः प्रमाणम् ॥

२३ बहुभिर्व्वसुधामुक्ताराजभिस्सगरादिभिः
यस्ययस्य यदाभूमि स्तस्यतस्य तदाफलं ॥

२४ अद्भिर्दत्तंत्रिभि र्भुक्तंसद्भिश्चपरिपालितम् ।
एतानि न निवर्त्तंते पूर्व्वराजकृतानि च ॥

२५ स्वदत्तां परदत्तां वा यो हरेत वसुधरां ।
षष्टिवर्षसहस्राणि नरके पच्यते तुसः ॥

भावार्थ— सिद्धम् । सर्वलोकनाथ सर्वज्ञ भगवान् की जय हो, जिनके पाद-पद्म देवों की मुकुट-मणि-प्रभा से अभिषिक्त हुए ऐसे शोभते है, जैसे पंकज सूर्य किरणों से आच्छादित शोभते है। रघुराज की कीर्ति दिगन्तों में व्याप्त थी। उनका छोटा भाई काकुस्थ राम के तुल्य था। उनका पुत्र श्रीमान् शान्तिवर्मा नामक नरेश था। मृगेश उनका पुत्र मृगेश सदृश पराक्रमवाला था। अमल कदम्बवंश रूपी पर्वत की उच्चतम शिखिरवत् रवि नरेश हुए, जो मानो उदयाद्रि की शिखिर पर सूर्य ही चमक रहे हों। यह राजन् साक्षात् दैत्य विजयी चक्रविभा युत विष्णु ही थे। अपने साम्राज्ययोग में आनंद मानते हुए भी वह मानकषाय में नहीं वहे थे। उनका वैभव दूसरों को मदमत्त बनाता था। पृथ्वी ने हर्षयुत हो इस चतुर नरेश का आश्रय लक्ष्मी-वत् प्रसन्नचित हो लिया था। रविनरेश की राजनगरी वैजयन्ती सुरेन्द्रनगरी—अमरावती को भी अपने सौन्दर्य से मात करती थी। विष्णु के वक्षस्थल पर विराजती हुई लक्ष्मी उतनी प्रसन्न नहीं हुई जितनी वह रवि नरेश के बाहुपाश से बंदी रह कर हुई। लोक में इस राजनीतिज्ञ राजा को वैसे ही अपना स्वामी

माना जैसे स्वर्ग में इन्द्र माना जाता है। स्वयं लक्ष्मी ने ही उनका अभिषेक किया था। नीलीकुण्ड पर्वत ने रघु को धारण किया था। अब वही पवन रवि नरेश के आदेशों को माल्यवत् धारण करता है। हरिदत्त ने जब उस नरेश से दान करने की विनती की तो मुस्कुराहट की ज्योत्स्ना बिखेरते हुए उन्होंने समुचित उत्तर दिया था। उनके वर्द्धमान शासनकाल के ३५ वें वर्ष में मधु (चैत्र) शुक्लपक्ष की एक शुभ तिथि को जब रोहिणी नक्षत्र था, तब इन महाबाहु अपराजित नरेश ने आसन्दि नामक ग्राम सिद्धायतन पूजा के अर्थ और संघ की परिवृद्धि के लिये भेंट किया। उसके अतिरिक्त कोरमगादि प्रदेश की कुछ भूमि भी प्रदान की, जिसका माप तोल दिया है। रविनरेश ने यह दान अपने सामन्तों के समक्ष उधारी राजकर से मुक्त करके दिया था। लोक के जो शासकगण जिनके मन कषायवासनाओं को जीतने में लगे हैं, इस दान की रक्षा करने के लिये उत्तरदायी होंगे, क्योंकि दान की रक्षा करने से महान् पुण्यफल एवं उसके नाश से पाप फल से वे अवगत होंगे। सगर आदि नरेशों द्वारा यह पृथ्वी भोगी जा चुकी है। जो कोई इसका शासक होगा उसे ही इस दान का फल मिलेगा। जो संकल्प कर के दिया गया अथवा तीन पीढ़ियों से जो भुक्तमान है या पूर्व राजाओं द्वारा प्रदत्त है वह दान कभी भी नहीं मिटाया जायगा। जो कोई दान की हुई भूमि को जब्त करेगा वह साठ हजार वर्षों तक नर्क में उबला जायगा। आजकल आसन्दि ग्राम कडुर जिले के कडुर तालुके में अजमपुर के पास अवस्थित है। यही ग्राम रविवर्मा नरेश ने जैनसंघ और सिद्धायतन की पूजा के लिये प्रदान किया था। 'सिद्धायतन' सम्भवतः सिद्ध भगवान का वाचक है।

एक साम्प्रदायिक चित्रण

[लेखक—श्रीयुत प० कैलाशचन्द्र शास्त्री]

२-३ वर्ष हुए, भारतीय विद्या-भवन से प्रकाशित होनेवाली 'भारतीय विद्या' नामक पत्रिका का एक अंक स्व० बाबू श्री बहादुर सिंह जी सिंघी स्मृति ग्रन्थ के नाम से प्रकाशित हुआ था। उसके सम्पादक मुनि श्री जिनविजय जी हैं। उसमें मुनि जी ने जयसलमेर के शास्त्र भण्डारों के कतिपय ग्रन्थों की काष्ठ की पटियों पर चित्रित कुछ चित्रों के ब्लाक भी मुद्रित कराये हैं। उनमें तीन चित्र (इ ई) ऐसे हैं जो दिगम्बर श्वेताम्बर विषयक एक शास्त्रार्थ से सम्बन्ध रखते हैं।

कहा जाता है कि गुर्जरेश्वर सिद्धराज की सभा में श्वेताम्बराचार्य देवसूरि और दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्र का शास्त्रार्थ हुआ था, जिसमें कुमुदचन्द्र को ८४ वादियों का विजेता बतलाया जाता है। किन्तु दिगम्बर परम्परा में इस घटना का तो कोई उल्लेख है ही नहीं, इस तरह के किसी कुमुदचन्द्र नाम के दिगम्बराचार्य का भी पता नहीं चलता। प्रत्युत् श्रवण बेलगोला के शिलालेख न० ४० में आचार्य श्रुतकीर्ति का वर्णन करते हुए उन्हें विपक्षी देवेन्द्र का विजेता बतलाया है। प्रोफेसर हीरालाल जी का कहना[1] है कि जिन विपक्ष सैद्धान्तिक देवेन्द्र का यहाँ उल्लेख है वे सम्भवतः प्रमाणनय तत्त्वालोकालंकार के कर्त्ता वादिप्रवर श्वेताम्बराचार्य देवेन्द्र या देवसूरि हैं, जिनके विषय में कहा गया है कि उन्होंने वि० सं० ११८१ में दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्र को वाद में परास्त किया था। अस्तु,

इन चित्रों का परिचय मुनि जिनविजय जी ने उक्त स्मृति ग्रन्थ में गुजराती भाषा में कराया है। मुनि जी लिखते हैं :—

'इन पट्टिकाओं की चित्रावली का विषय ऐतिहासिक है, और श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय मे अति प्रसिद्ध है। वादी देवसूरि नाम के एक प्रख्यात आचार्य सिद्धराज के समकालीन थे। वि० सं० ११८१ मे, पाटन में सिद्धराज की सभा मे, उन्हीं की अध्यक्षता में, आचार्य देवसूरि का दिगम्बर सम्प्रदाय के एक अति प्रसिद्ध विद्वान् आचार्य कुमुदचन्द्र के साथ, श्वेताम्बर दिगम्बर सम्प्रदाय के बीच के मतभेदो की अमुक मान्यता के विषय में एक निर्णायक वादविवाद हुआ था। उसमें वादी देवसेन सूरि की विजय हुई थी। 'प्रभावक चरित्र' 'प्रबन्ध चिन्तामणि', 'चतुरशीति प्रबन्ध संग्रह' आदि श्वे० जैन ऐतिहासिक प्रबन्ध ग्रन्थों में देवसूरि का विस्तृत इतिहास पाया जाता है और इस वाद-विवाद का भी हाल विस्तार से लिखा है। साथ ही, इस प्रसंग को लेकर यशश्चन्द्र नाम के एक समकालीन

(1) देखो जैन-शिला-सग्रह पृ० २९ की पाद टिप्पणी।

कवि ने मुद्रित 'कुमुदचन्द्र' नाम के एक सुन्दर नाटक की भी रचना की है, जिसमें घटनाओं का बहुत कुछ वर्णन किया गया है।'

मुनि जी का मत है कि ये चित्र उक्त घटना के ५-७ वर्ष के अन्दर ही सिद्धराज के समय में ही चित्रित किये गये हैं। आगे मुनि जी चित्रफलक (इ) का परिचय देते हुए कहते हैं —

'इस चित्र में दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्र और श्वेताम्बर वादी देवसूरि की व्याख्यान सभा का दृश्य अंकित किया गया है। गुजरात के आशापल्ली स्थान पर जिसे पीछे से कर्णावती भी कहते थे जुदे जुदे धर्मस्थानों में ये दोनों आचार्य एक साथ आकर ठहरे थे। उन दोनों में प्रसंगवश विद्या विषयक चर्चा शुरू हुई। और वे दोनों अपने २ शिष्यों और भक्तों के आगे एक दूसरे के साम्प्रदायिक मतव्यों का खण्डन मण्डन करने लगे। इस चित्रखंड में प्रथम दृश्य दिगम्बरा० कुमुदचन्द्र की सभा का है। इसमें एक ऊँचे लकड़ी के आसन पर नग्न रूप के दिगम्बराचार्य बैठे हैं। उनके सामने उनके कोई मुख्य शिष्य तथा पीछे भक्त गृहस्थ बैठे हैं। आचार्य के पीछे उनके कोई क्षुल्लक शिष्य खड़े हैं। उनकी बगल में मयूरपीछी है और हाथ में एक वस्त्र का टुकड़ा है। उसके द्वारा वह आचार्य को हवा कर रहे हैं। आचार्य की मुद्रा उपदेश प्रवण है। और उसका भाव खूब उत्तेजक है। श्रोतागण भी आचार्य के कथन को उत्साह और आवेग पूर्वक सुन रहे हैं।'

'इसके बाद देवसूरि की व्याख्यान सभा का दृश्य है। यह भी ऊँचे लकड़ी के आसन पर श्वेतवस्त्र पहने बैठे हैं। उनके सामने एक कोई प्रौढ़ शिष्य बैठा है। उसके पास दो श्रावक बैठे हैं, एक लघु शिष्य पीछे खड़ा हुआ वस्त्र से आचार्य को हवा कर रहा है। इन आचार्य की मुद्रा भी वैसी ही उपदेश प्रवण और भावोत्तेजक है किन्तु उनके हस्तसंचालन में जरा अधिक मृदुता और मुख पर अधिक सौम्य भाव बतलाया है। इतना दृश्य तो दोनों आचार्यों का समान है। किन्तु देवसेन सूरि की सभा में एक व्यक्ति खड़ा है जो उत्तेजनात्मक भाषण कर रहा है ऐसा प्रतीत होता है। इसमें लिखे हुए वाक्य से यह प्रकट होता है कि जो व्यक्ति खड़ा है वह दिगम्बराचार्य का आदमी है। और वह देवसूरि के आगे कोई वादविवादात्मक विषय में लगता हुआ सम्भाषण कर रहा है। यह आदमी क्या कहता है इसका मरम शाब्दिक चित्र मुद्रित कुमुदचन्द्र नाटक के प्रथम अंक में दिया है, जिज्ञासुओं को वहाँ से जान लेना चाहिये, यहाँ देने का अवकाश नहीं है।

'चित्रफलक (इ)—दोनों आचार्यों में यह ठहराव हुआ कि उन्हें पाटन में सिद्धराज की राजसभा में शास्त्रार्थ करना चाहिये और अपनी अपनी विद्याशक्ति का परिचय देकर राजा से जय पराजय का प्रमाणपत्र लेना चाहिये। इस निर्णय के अनुसार दोनों आचार्य नर

अपने अपने परिवार के साथ आशापल्ली स्थान से पाटन जाने के लिये प्रस्थान करते हैं, उस समय का दृश्य इस चित्र में अंकित किया गया है। इसमें ऊपर के चित्र में देवसूरि के प्रस्थान का दृश्य बतलाया है। पाटन में सिद्धराज की सभा में, कुमुदचन्द्र के साथ जो वाद-विवाद होगा उसमें उनकी विजय हो, इस लिये आशापल्ली के जैन संघ ने शुभ शकुनों का प्रबन्ध कर रखा था। देवसूरि जब मकान से बाहर निकले तब उनके सामने भव्य जैन रथयात्रा निकल रही है, जिसमें एक सुन्दर रथ में जिनमूर्ति को बैठाकर उसके आगे नृत्य गीत आदि का सुन्दर प्रबन्ध किया गया है। देवसूरि उत्साह पूर्वक आगे पैर रख रहे हैं। उनका शरीर खूब कद्दावर और हृष्टपुष्ट है। आँखों में गाम्भीर्य और मुख पर प्रसन्नता छाई हुई है। दो भक्त विकसित मुख और आदर सूचक मुखमुद्रा से अभिनन्दन कर रहे है। आचार्य और श्रावकों के आगे एक नर्त्तक मण्डली चल रही है। जिसमें एक नर्तकी भावभंगी पूर्ण नृत्य कर रही है।····· नर्तकमण्डली के पीछे जिनमूर्ति-वाला सुन्दर काष्ठ रथ है। जिसे पुरुष और युवक खूब उत्साह से खेंच रहे है। इन शुभ शकुनों के साथ होने वाले प्रस्थान से देवसूरि का संघ अपने पक्ष की भावी विजय के विश्वास के साथ उत्साह पूर्वक पाटन की तरफ जा रहा है।'

'इसके नीचे के दूसरे चित्र में आचार्य कुमुदचन्द्र के प्रयाण का दृश्य बतलाया है। दिगम्बराचार्य पालकी में बैठ कर पाटन तरफ जाने के लिये निकले हैं। इनके अनुचरों में ३-४ जने पालकी उठाने वाले है। ३-४ जने छत्र लिये हुए हैं। आगे दो सुभट चल रहे हैं जिनके हाथ में ढाल और तलवार है। सब से आगे एक अनुचर बिगुल देता हुआ चल रहा है, जिसके सुनने से लोग यह समझ सकें कि किसी बड़े धर्माचार्य की सवारी आ रही है। दिगम्बराचार्य की सवारी गाँव द्वार से बाहर निकल कर जैसे ही एक स्थान पर पहुचती है उसके आगे ऊँचा फण किये बैठा एक बड़ा काला सर्प दिखाई देता है। आचार्य के अनुचर इस अपशकुन को देख कर मन में खिन्न होते हैं और एक दूसरे का मुख देखने लगते हैं। आचार्य भी इस अपशकुन को देख कर मन में जरा उद्विग्न हो जाते है। चित्रकार ने उनके मुख के ऊपर इस उद्वेग का अच्छा भाव मार्मिकता के साथ दिखाया है।'

'इसके बाद के चित्र में, दिगम्बराचार्य पाटन के राजा के अन्त पुर में, बहुत करके राजमाता से मिलने जाना चाहते है, किन्तु द्वारपाल उन्हें रोक देता है। इस चित्र का भाव यह है कि सिद्धराज की माता मयणल्ला देवी दक्षिण की राजकुमारी थी और उनका पितृपक्ष दिगम्बर सम्प्रदाय की तरफ पक्षपात रखता था। कुमुदचन्द्राचार्य भी दक्षिण देश के वासी थे। इससे उनकी ओर राजमाता का भक्तिभाव था। इससे दिगम्बराचार्य राजमाता से व्यक्तिगत रूप से मिलने के लिये और उनके पक्ष की जिससे विजय हो ऐसा

कोई उपाय करने की सूचना प्राप्त करने के लिये, पीछे के दरवाजे से अन्त पुर में जाना चाहते हैं। किन्तु शस्त्रधारी द्वारपाल उन्हें पीछे हटा देता है। द्वारपाल की मुखमुद्रा खूब उत्तेजित है और कड़ाई के साथ निषेध करता हुआ उसका हाथ कठोर दिखाई देता है। पीछे हटते हुए नग्नाचार्य को उसके सामने अजीब दृष्टि से विनम्रता पूर्वक कुछ कहते हुए तथा उतावले दगों से चले आते हुए बताया है।

इस चित्र परिचय को समाप्त करते हुये मुनि जी ने लिखा है कि पश्चिम भारत की चित्रकला के इतिहास में इन पट्टिकाओं के चित्र अपने को एक महत्त्व के प्रकरण की मूल्यवान सामग्री देते हैं।

जिस 'मुद्रित कुमुदचन्द्र प्रकरण' का मुनि जी ने उल्लेख किया है उसे भी हमने देखा है। इन चित्रों और उक्त प्रकरण को देखने से हमें तो उनमें ऐतिहासिकता से अधिक साम्प्रदायिकता का ही चित्रण किया प्रतीत होता है। यह तो हम नहीं कह सकते कि ऐसी कोई घटना घटी ही नहीं होगी, किन्तु उक्त घटना को आवश्यकता से अधिक तूल अवश्य दिया गया है। और लेखनी तथा तूलिका नचाने वालों ने, नगवर यत्न रत का प्रयत्न किया है कि जिससे दिगम्बर और उनके आचार्य लोगों की दृष्टि में गिरे और श्वेताम्बर तथा उनके आचार्य लोगों की दृष्टि में उठें। इसीसे चित्र तथा प्रकरण में की अनेक बातें ऐसी निबद्ध कर दी गई हैं जो दिगम्बर परम्परा के तथा एक साधु के प्रतिकूल हैं।

लोगों की दृष्टि में गिरानेवाली बातें

इस झगड़े का प्रारम्भ दिगम्बराचार्य की ओर से हुआ बतलाया गया है। दिगम्बराचार्य का एक शिष्य देवसूरि की सभा में आकर अण्ट सट बकता है और देवसूरि अपने पद के योग्य क्षमा भाव प्रदर्शित करते हैं। फिर कुमुदचन्द्र पर तत्पर (सुभग) लोगों की गोष्ठी में एक वृद्धा आर्यिका को नचाने का अभियोग लगाया गया है। वह आर्यिका देवसूरि की सभा में जाकर कहती है कि कुमुदचन्द्र ने मेरा अपमान किया है। इसी पर शास्त्रार्थ की चर्चा चलती है। देवसूरि की ओर से एक दूत कुमुदचन्द्र की सभा में जाता है और वहां दोनों में खूब झड़प होती हुई बतलाई गई है। आगे दिगम्बराचार्य को घूस देने में चतुर बतलाते हुए कहा है उसने घूस देकर सभासदों को और राजा के आदमियों को वश में कर लिया। शास्त्रार्थ में भी इसी तरह की निम्नता प्रदर्शित की गई है।

दिगम्बराचार्य का पालकी पर बैठकर चलना, आगे शस्त्रधारी भटों का चलना, स्त्रियों से हवा करवाना, स्त्रियों के साथ सहवास करना और आर्यिका वृद्धा को सभा में नचाना

आदि ऐसी बातें हैं जो साम्प्रदायिकता से अधिक सम्बन्ध रखती हैं। इसी तरह दिगम्बराचार्य का अपनी विजय के लिये छिपकर राज-माता के पास जाना और वहा द्वारपाल के द्वारा तिरस्कृत होना भी है। यदि कुमुदचन्द्र वास्तव में इतने बड़े विद्वान् थे जितना उन्हें बतलाया गया है तो वे इस तरह के गर्ह्य उपाय काम में नहीं ला सकते थे। और यदि उन्होंने ऐसे उपाय काम में लिये तो कहना पड़ेगा कि देवसूरि के प्रतिद्वन्द्वी कोई विद्वान् नहीं थे। अस्तु,

जो हो, हमें तो खेद इसी बात का है कि इतिहासज्ञ जन भी साम्प्रदायिकता पूर्ण चित्रणों को इतिहास कहकर उसका प्रचार करते हैं।

——:o:——

भ० महावीर के समकालीन नृपतिगण

[ले०—श्रीयुत अगरचन्द नाहटा]

'वीर' के गत महावीर जयन्ती विशेषांक में प्रज्ञाचक्षु पं० गोविन्दरायजी का 'महावीर के समय का भारत' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है। लेख के शीर्षक एवं श्री पांगुलजी की टिप्पणी के अनुसार प्रस्तुत लेख भ० महावीर के समय के भारत की स्थिति का दिग्दर्शन करानेवाला होने से बड़ा होना चाहिये। पता नहीं इसके अप्रकाशित अंश में क्या प्रकाश डाला गया है? पर यदि 'वीर' में प्रकाशित लेखांश ही पूर्ण है तो इसका नामकरण 'महावीर के समकालीन भक्त नृपतिगण' होना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है क्योंकि तत्कालीन भारत की स्थिति का इस लेख से परिज्ञान नहीं होता। अस्तु।

जैसा कि सम्पादकीय टिप्पणी में कहा गया है लेख गवेषणापूर्ण है पर वह पूर्ण एवं प्रमाण नहीं प्रतीत होता अतः उसके सम्बन्ध में कुछ प्रकाश डालना आवश्यक होने से प्रस्तुत लेख लिखा जा रहा है। आशा है शीघ्र ही गोविन्दरायजी या डा० जगदीशचन्द्रजी आदि अन्य अधिकारी विद्वान् महावीरकालीन भारत पर सुन्दर प्रकाश डालकर हमारी जानकारी बढ़ायेंगे। आलोच्य लेख की अपूर्णता एवं विचारणीय बातोंपर प्रकाश डालने से पूर्व उसके भ्रम होने के कारण पर अपने विचार प्रकट कर देना भी आवश्यक समझता हूं ताकि भविष्य में उनकी ओर ध्यान रखा जाय।

हमारे विद्वानों के लेखन में मुझे एक बड़ी कमी यह अनुभव हो रही है कि हमारा ज्ञान बहुत कुछ एकांगी है। जैन कहलाने पर भी हम पूरे जैन नहीं पर अधिकतर दि० या श्वे० ही प्रतीत होते हैं। हमारा पठन पाठन एक सम्प्रदाय के ग्रन्थों तक ही सीमित होने से सम्पूर्ण जैन इतिहास, साहित्य, कला, तत्त्वज्ञान आदि का हमें प्रायः परिचय नहीं होता। अतः सबसे पहले हमें इस कमी को हटाना आवश्यक है। किसी भी विषयपर लिखने से पूर्व दोनों सम्प्रदायों के प्राप्त साहित्य का समभाव पूर्वक अध्ययन बढ़ाना होगा तभी हमारे लेखन जैन सम्मिलित कहलाने योग्य होगा।

पं० गोविन्दरायजी के लेख से ध्वनित होता है कि उन्होंने जो कुछ लिखा है वह दि० ग्रन्थों के आधार से लिखा है जब कि मेरे नम्र मतानुसार इस विषयपर श्वे० जैनागमों के अध्ययन के बिना ठीक से लिखा ही नहीं जा सकता। तत्कालीन इतिहास का जैसा विशद एवं प्रामाणिक वर्णन जैनागमों एवं उनकी नियुक्ति, भाष्य, चूर्णि आदि में सुरक्षित है, अन्यत्र अप्राप्य है। महावीर कालीन भारत पर लिखने के दूसरे साधन हैं बौद्ध पिटक ग्रन्थ। जैनागमों के भलीभांति अध्ययन करनेका सुयोग न भी मिले तो उनके आधार से लिखित मुनि कल्याणविजयजी का 'श्रमण भ० महावीर' एवं गोपालदास पटेल लिखित 'महावीर कथा' इन दो ग्रन्थों का अध्ययन कर लेनेपर काम चलाऊ

ज्ञान हो सकता है। मान्यवर डा० जगदीशचन्द्रजी का "वर्द्धमान महावीर" एवं उनकी थीसिस भी जो अभी प्रकाशित भी हो चुकी है, उपयोगी साधन हैं।

दूसरी सावधानी साधनों के उपयोग करने में विवेक की आवश्यकता है। घटनाओं से बहुत पीछे के लिखे ग्रन्थों को पौराणिक-सा मानकर उनके मूल तत्त्व को अन्य प्राचीन साधनों से खोज निकालना आवश्यक होता है। ग्रन्थान्तरों में एक ही घटना कई प्रकार से लिखी मिलती है एवं ऐतिहासिक व्यक्तियों एवं स्थानों के नामादि में अन्तर पाया जाता है वहाँ प्राचीन ग्रन्थ को ही अधिक महत्व देना आवश्यक हो जाता है। इसी प्रकार पद-पद पर साधनों के उपयोग करने में विवेक, समभाव (निष्पक्षपात), टिप्पणी में अन्य साधनों का निर्देश व स्पष्टीकरण आदि बातें विशेषरूप से ध्यान में रखनी चाहिये।

तीसरी सावधानी प्रमाणों के उचित मूल्याङ्कन के सम्बन्ध में रखने की होती है। हम जैन या दि० या श्वे० हैं इसलिये यदि जैन या दि०, श्वे० की प्रत्येक बातको बढ़ा चढ़ा कर लिखने या अनुचित महत्व देने लगेंगे तो वह लेखन सर्वमान्य व प्रामाणिक नहीं हो सकेगा। बहुत-सी बार ऐसा अनुभव होता है कि कोई ग्रन्थ या कवि साधारण होता है पर हम उसकी बहुत प्रशंसा कर देते हैं और कहीं कहीं महत्वपूर्ण ग्रन्थ को निष्पक्षपात से नहीं पढने के कारण उसको साधारण बतला देते हैं, यह उचित नहीं कहा जा सकता। अत. जहाँतक हो सके तटस्थता के साथ अध्ययन करने की ओर ध्यान रखना आवश्यक है। साम्प्रदायिक दृष्टि व बहावे में न लिखकर घटना, एक वस्तु को उचित महत्व देना ही उपयुक्त है।

उपर्युक्त बातें किसी व्यक्ति विशेष को लक्ष्य करके नहीं लिखी गयी हैं पर प्रसंगवश साधारणतया ध्यान में रखने के लिये ही लिखी गयी हैं। आशा है पाठक इसे उचित अर्थ में ग्रहण करनेका ध्यान रखेंगे। इस प्रासङ्गिक भूमिका के बाद मूल विषय पर आता हू।

जैसा कि मैं पूर्व कह चुका हूँ कि पं० गोविन्दरायजी के लेखका आधार दि० साहित्य है पर उसके आधार ग्रन्थ कितने प्राचीन हैं? लेख में निर्देश नहीं होने से प्राचीनता व प्रामाणिकता के विषय में कुछ कह नहीं सकता पर उसमें प्रकाशित कई बातें प्राचीन श्वे० साहित्य में भिन्न प्रकार से वर्णित देखने में आई है उन्हीं की यहाँ सूचना कर देता हूँ।

१ आपके लेख में वैशाली के राजा चेटक की पहिली कन्या प्रियकारिणी का विवाह सिद्धार्थ से हुआ और उसी से महावीर का जन्म हुआ बतलाया गया है, पर श्वे० आवश्यक चूर्णि आदि के अनुसार महावीर की माता चेटक की कन्या नहीं, पर बहिन थी। चेटक की पुत्री ज्येष्ठा का भ० महावीर के बडे भाई नंदीवर्द्धन से विवाह होनेका उल्लेख उसी ग्रन्थ में अवश्य आता है।

२ चेटक की सात कन्याएँ थीं, यह तो ठीक है पर उनके क्रम, नाम, एवं पतियों के नाम, व स्थान के सम्बन्ध में आवश्यक चूर्णि से गोविन्दरायजी के लिखित क्रमादि भिन्न हैं यथा—

आवश्यक चूर्णि के अनुसार—			पं० गोविन्दरायजी के लेख के अनुसार—		
पुत्रीनाम—	पति—	स्थान नगर—	पुत्रीनाम—	पति—	स्थान नगर—
१ प्रभावती	उदयन	वीतिभय	१ प्रियकारिणी	सिद्धार्थ	कुण्डलपुर
२ पद्मावती	दधिवाहन	चंपा	२ मृगावती	शतानीक	कौशाम्बी
३ मृगावती	शतानीक	कौशाम्बी	३ सुप्रभा	दशरथ	हेरकच्छ
४ शिवा	प्रद्योत	उज्जयिनी	४ प्रभावती	उदयन	रोरुक
५ ज्येष्ठा	नन्दीवर्द्धन	कुण्डग्राम	५ ज्येष्ठा	सात्यक	गंधार—
६ सुज्येष्ठा—कुमारिकावस्था में दीक्षा			(विवाह से पूर्व दीक्षित)		
७ चेल्लणा	श्रेणिक	राजगृह			

इनमें से चूर्णि का समर्थन मूल आगमों से भी होता है अतः विशेषरूप से मान्य किये जाने योग्य है। जैसे प्रभावती के पति उदायन की राजधानी सिंधु—सौवार देश के वीतिभय नगर में होने व उनके उत्तराधिकारी अभीचि कुमार (भानजा) आदि का उल्लेख भगवतीसूत्र में विस्तार से आया है अतः उनकी राजधानी कच्छ काठियावाड़का रोरुक बतलाना सही नहीं प्रतीत होता। विशेष जानने के लिये मुनि जिन विजयजी का "वैशालिना गण सत्ताक राज्य नो नायक राजा चेटक" लेख देखना चाहिये जो कि जैन सा० संशोधक वर्ष २ अङ्क ४ में प्रकाशित है। चेटक के सम्बन्ध में एक अन्य लेख विश्ववाणी के गत अगस्त के अङ्क में भी प्रकाशित है।

३ दशार्ण देशकी राजधानी हेरकच्छ व राजा दशरथ बतलाया गया है तब श्वे० आगमानुसार राजधानी दशार्णपुर मृत्तिकावति का राजा दशार्णभद्र था जो कि भ० महावीर के पास दीक्षित हुआ था।

४ कौशाम्बी नरेश शतानीक के दीक्षित होने एवं उनके तीन अन्य उत्तराधिकारी होने के पश्चात् उदयन को राजा होना लिखा गया है पर जैनागमों के अनुसार शतानीक ने दीक्षा ग्रहण नहीं की वह वैसे ही कालधर्म को प्राप्त हुआ। मृगावती म० महावीर के पास दीक्षित अवश्य हुई थी। भागवत पुराण में ३ राजाओं का होना व सहस्रानीक का शतानीक के पद पर आसीन होना कहा गया है पर वह सही नहीं प्रतीत होता। जैनागमों के अनुसार सहस्रानीक शतानीक का पिता था और शतानीक के समय उदयन छोटा अवश्य था पर राजकार्य मन्त्रियों की सहायता से मृगावती सम्भालती थी। मृगावती के दीक्षा लेनेपर उदयन का राज्याभिषेक हुआ था। अतः शतानीक का उत्तराधिकारी उदयन हुआ न कि बीचमें अन्य तीन व्यक्ति।

५ जीवन्धर की कथा का आधार कितना प्राचीन है ? कहा नहीं जा सकता अतः उस कथा में जितने राजादि के नाम आये हैं वे महावीर के समकालीन थे यह संदिग्ध है। उक्त कथानुसार मिथिलाका

राजा गोविन्दराज था तब जैनागमों के अनुसार तत्कालीन मिथिला के राजा का नाम जितशत्रु या जनक था। जितशत्रु के धारिणी नामक रानी थी।

६ वशाली को आजकल की तिरहुत नगरी होने की सम्भावना की गई है पर उसका वर्तमान नाम वसाडपट्टी प्रसिद्ध ही है। वह आज भी मुजफ्फरपुर एवं हाजीपुर से २३ मील पर अवस्थित है।

७ श्रावस्ति के राजा प्रसेनजित का नाम जैन साहित्य में जयसेन होना बतलाया गया है पर वह उल्लेख दि० ग्रन्थों में होगा। श्वे० आगमानुसार श्रावस्ति का राजा जितशत्रु था एवं श्वेताम्बिका का राजा प्रदेशी था।

८ आराधना कथाकोश के उल्लेखानुसार अवन्ति सुकुमार को महावीर कालीन (प्रद्योत के राज्य मे) बतलाया है पर श्वे० आवश्यक चूर्णि आदि प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार वह आचार्य आर्य सुहस्ती के समय मे हुआ है जिनका समय वी०नि० २४६ से २९१ है। विशेष जानने के लिये विक्रम स्मृति ग्रन्थ मे डा० शार्लोटे क्राउझे (सुभद्रा देवी) का "जैन साहित्य मे महाकालमंदिर" शीर्षक लेख देखना चाहिये।

अर्थात् गोविन्दरायजी के उक्त छोटे से लेख मे ८ बातों में श्वे० प्राचीन साहित्य से मतभेद प्रतीत होता है। अब श्वेताम्बर जैनागमो एवं चरित्र ग्रन्थो मे से उक्त लेख मे वर्णित राजाओं के अतिरिक्त जिन राजाओं का उल्लेख श्रमण भ० महावीरादि मे मिलता है उनका यहाँ निर्देश कर दिया जाता है।

१ आलभिया, बनारस, लोहार्गल, काकंदी कंपिल्ला के तत्कालीन राजा का नाम जितशत्रु था। संभव है जितशत्रु असू राजाओंका एक विशेषण भी हो।

२ कनकपुर के राजा का नाम प्रियचन्द और रानीका नाम सुभद्रा था। उनके युवराजकुमार वैश्रमणकुमार और युवराज के पुत्रका नाम धनपति था। इनमें से धनपति भ० महावीर से दीक्षित हुए थे।

३ पृष्ठ चंपा के राजा शाल और छोटे भाई युवराज महाशाल महावीर से दीक्षित हुए। इनके राज्यका उत्तराधिकारी इनका भानजा गागलि हुआ, उसने भी दीक्षा ली थी।

४ कोटिवर्ष के राजा किरातराजने साकेत नगर मे भ० महावीर से दीक्षा ली।

५ चम्पा के राजा का नाम जितशत्रु और दत्त लिखा मिलता है। दत्त के रक्तवती रानी व महचंद्रकुमार पुत्र था। कुमारने भ० महावीर से दीक्षा ग्रहण की। पीछे कोणिक ने चंपा अपनी राजधानी बनाई।

६ पुरिमताल का राजा महाबल था।

७ पोतनपुर के राजा प्रसन्नचन्द्रने भ० महावीर के पास दीक्षा ली थी। आवश्यक चूर्णिके अनुसार ये क्षितिप्रतिष्ठित एवं गुणचन्द्र गणि के अनुसार ताम्रलिपि के राजा थे।

८ पोलासपुर के राजा विजय थे, जिनकी श्री श्रीदेवी के पुत्र अतिमुक्तक कुमार ने बाल्यावस्था में भ० महावीर से दीक्षा ली।

९ बनारस के राजा अलक्ष को भ० महावीर ने दीक्षित किया था।

१० महापुर के राजा का नाम बल रानी का नाम सुभद्रा, राजकुमार का नाम महाबल था। महाबल भ० महावीर के पास दीक्षित हुए थे।

११ मृगग्राम का राजा विजय क्षत्रिय एवं रानी मृगावती था।

१२ सौगंधिक नगर का राजा वैश्रमणदत्त एवं रानी श्रीदेवी था।

१३ वर्धमानपुर का राजा विजय मित्र था।

१४ विजयपुर का राजा वासवदत्त व रानी कृष्णा था। राजकुमार सुवास ने भ० महावीर से दीक्षा ग्रहण की।

१५ वीरपुर के राजा का नाम वीरकृष्ण मित्र एवं रानी का नाम श्रीदेवी था। राजकुमार सुजात भ० महावीर के शिष्य बने थे।

१६ साकेत के राजा मित्रनंदि और रानी श्रीकान्ता था।

१७ सुघोष नगर का राजा अर्जुन रानी तत्त्ववती था। राजकुमार भद्रनंदी भ० महावीर के उपदेश से पञ्च श्रावक फिर साधु बने थे।

१८ सौगन्धिका नगरी के राजा अप्रतिहत एवं रानी सुकृष्णा था।

१९ हस्तिनापुर नगर का राजा अदीनशत्रु व रानी का नाम धारिणी था।

२० स्थानांग सूत्र के ८ वें स्थानक में भ० महावीर से दीक्षित ८ राजाओं के नाम हैं—

(१) वीरांगक (२) वीरयश (३) संजय (४) एणेयक (५) सेय (सेव) (का पुत्र शिवभद्र था) (६) शिव (७) उदायन और संख इनमें शिव हस्तिनापुर (हस्तिनापुर) एवं उदायन, पारसय के राजा थे। अवशेष नरेश कहाँ के थे ? यह अन्वेषणीय है। नं० १ से १९ तक राजाओं का उल्लेख ' श्रमण भ० महावीर' नामक ग्रन्थ में है।

प्रसंगवश यहाँ एक बात का स्पष्टीकरण और भी कर देना आवश्यक समझता हूँ कि भ० महावीर कालीन सामाजिक एवं धार्मिक स्थिति के बारे में आजतक जो कुछ लिखा गया है वह भी एकांगी एवं त्रुटिपूर्ण है। उस समय में सब धर्मों के धर्माचार्यों के प्रति बहुमान एवं धार्मिक जिज्ञासा आदि अनेक अनुकरणीय एवं उपयोगी बातें बड़ी ही सुन्दर थीं उन पर कोई विद्वान् प्रकाश तक नहीं डालता। मैंने स्वयं भ० महावीर के समय की सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थिति लेख द्वारा विद्वानों का ध्यान इस ओर आकर्षित भी किया था जो कि महावीर सन्देश वर्ष ३ अंक १४ में प्रकाशित है पर खेद है कि किसी भी विद्वान ने ध्यान नहीं दिया। आशा है भविष्य में इस ओर भी ध्यान दिया जायगा।

२१ "श्रीमहावीर" कथा के अनुसार कुछ अन्य राजाओंके नाम इस प्रकार हैं—

स्थान—	राजा—
१ वाणिज्य ग्राम	मित्र
२ साभांजनी	महाचंद्र
३ मथुरा	श्रीदाम
४ पाटलिखण्ड	सिद्धार्थ
५ शौरिकपुर	शौरिकदत्त
६ वृषभपुर	धनावर
७ आमल कप्पा (रायपसेणी सूत्र)	सेय

इनमें स सेय संभवत स्थानाङ्ग सूत्रोक्त भ० महावीर के दीक्षित मे यही होंगे।

इस लेखमें वर्णित सभी नृपतियों के नाम ऐतिहासिक दृष्टि से सही हैं यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आगमादि ग्रन्थ एक हजार वर्ष तक मौखिक रहे हैं अत विस्मृति से नामों मे रद्दोबदल भी हो सकता है। कई नाम पीछले महावीर चरित्र ग्रन्थों के आधार से भी लिखे गये हैं जिनका प्राचीन आधार अज्ञात है अत बौद्ध साहित्य के आधार से जांच कर के उपयोग करना आवश्यक है।

इनके अतिरिक्त पावापुरी के राजा हस्तिपाल एव ६ मल्लकी ६ लिच्छवि १७ गण राजाओं का उल्लेख कल्पसूत्र में मिलता है। १७ गण राजाओं के नाम अन्वेषणीय हैं।

मुनि ज्ञानसुन्दर जी ने प्राचीन इतिहास संग्रह भ० २ मे अन्य कई राजाओं का उल्लेख किया है पर उनका निर्णय करना आवश्यक है।

चन्द्रगुप्त-चाणक्य इतिवृत्त के जैन आधार

[ले० श्रीयुत बा० ज्योतिप्रसाद जैन एम० ए० एल एल० बी०]

सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य तथा राजनीति के महान् पण्डित आचार्य चाणक्य भारतीय इतिहास क्षितिज के प्रारम्भिक प्रकाशमान नक्षत्रों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति हैं। यदि मौर्य चन्द्रगुप्तको प्रथम ऐतिहासिक भारतीय साम्राज्य स्थापित करने का श्रेय प्राप्त है, तो आचार्य चाणक्य केवल उक्त साम्राज्य के कर्णधार एवं कुशल व्यवस्थापक थे वरन् अधुना भारतीय राजनीतिविज्ञान के सर्वाद्य आदि नियामक एवं प्रणेता भी थे।

इतिहास के विद्यार्थी को उक्त दोनों व्यक्तियों के विषय में आज बहुत कुछ सामग्री उपलब्ध है, अनेक आधुनिक इतिहासान्वेषकों एवं इतिहास लेखकोंने उनके सम्बन्ध में पर्याप्त लिखा है। किन्तु जब हम तत्सम्बन्धी ऐतिह्य मूलाधारोंपर दृष्टिपात करते हैं तो उन्हें चार प्रकार का पाते हैं—(१) प्रथम उन विदेशी (यवनानी) लेखकों के वर्णन हैं जो ४ थी शताब्दी ईस्वी पूर्व के चतुर्थपाद में तथा तदुपरान्त भारत के सम्पर्क में आये। विशेष कर, सिकन्दर महान् की आक्रमणकारी सेना से सम्बद्ध (३२६-३२३ ई० पू०) यवन लेखकों तथा यवनराज सेल्यूकस द्वारा मगधराज्य दरबार में भेजे गये यूनानी राजदूत मेगेस्थनीज तथा उनके आधारपर स्ट्रेबो, जस्टिन, क्यूरियस आदि[1] यूनानी इतिहासकारों द्वारा लिखित भारत सम्बन्धी वृत्तान्तों में भारतवर्ष की तत्कालीन राज्यशक्ति राज्य व्यवस्था एवं देश तथा समाज की दशा के ऊपर अच्छा प्रकाश पड़ा है। परन्तु इन लेखकों ने मन्त्रीश्वर चाणक्य अथवा सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य का कोई स्पष्ट नामोल्लेख भी नहीं किया और न उनके व्यक्तित्व अथवा जीवन सम्बन्धी विशिष्ट घटनाओं के विषय में ही कुछ लिखा। तत्कालीन भारतस्थ प्राचीन नरेश का नाम उन्होंने सैन्ड्रोकस, सैन्ड्रोकोटस, सैन्ड्रोक्रिप्टस, सैन्ड्रोकुप्टस आदि रूपों में, थोड़े थोड़े अन्तर को लिये हुए दिया है, जिसका कि १८ वीं शताब्दी के अन्त में सर विलियमजोन्स की कल्पना के आधारपर आधुनिक इतिहासज्ञ विद्वानोंने सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ प्रायः सुनिश्चितरूप से समीकरण मान लिया है, यद्यपि उक्त समीकरण में मतभेद की पर्याप्त गुन्जायश है और कितने ही विद्वान् प्रबल प्रमाणाधार से उसे भ्रमपूर्ण समझते भी रहे हैं[2]।

(२) दूसरा आधार ब्राह्मण अनुश्रुति एवं साहित्य है। विष्णु आदि हिन्दू पुराणों में तो भविष्यवाणी के रूप में प्रायः केवल इतना उल्लेख ही प्राप्त होता है कि 'नवनन्दों का

---

१ See Mccrindel s Translations

२ Viz T L. Shah—Ancient India Pt II

चाणक्य ब्राह्मण नाश करेगा और वही मौर्य चन्द्रगुप्त को राज्य देगा।' विशाखदत्त के प्रसिद्ध 'मुद्राराक्षस नाटक' में चन्द्रगुप्त मौर्य की राज्य प्राप्ति के उपरान्त नन्दों के भूतपूर्व मन्त्री राक्षस तथा चाणक्य के बीच राजनैतिक संघर्षों एवं कूट द्वन्द्वों का दिलचस्प चित्रण है। उक्त नाटक के टीकाकार ढुंढीराजने चाणक्य अपर नाम विष्णुगुप्त ब्राह्मण को दण्डनीति का पण्डित, सर्वविद्या पारगत एवं नीतिशास्त्र का आचार्य करके लिखा है; और चन्द्रगुप्त को नन्द की मुरा नामक शूद्रा दासी का पुत्र कथन किया है। 'कथा सरित्सागर' में चाणक्य द्वारा नन्द के श्राद्ध का निमन्त्रण स्वीकार करने और शकटार के षड्यन्त्र से सुबन्धु के होता बनाये जाने पर अपना अपमान जान क्रोधावेश में नन्द के नाश की प्रतिज्ञा करने का वर्णन है। अस्तु इन आधारों से चाणक्य के मगध राजनीति में पदार्पण करने से पूर्व के इतिवृत्त के सम्बन्ध में, उसको पितृकुल, व्यक्तिगत जीवन तथा उसकी अन्तिम अवस्था के विषय में कुछ भी ज्ञान नहीं होता। साथ ही ये आधार चन्द्रगुप्त चाणक्य से लगभग एक हजार वर्ष से भी अधिक पीछे के है।

चाणक्य का स्वरचित प्रख्यात 'अर्थशास्त्र' अपने शुद्ध मौलिक रूप में आज उपलब्ध नहीं है। किन्तु विष्णुगुप्त नामक विद्वान् की टीका के रूप में जैसा कुछ भी वह मिलता है वह मूलकर्ता अथवा उसके स्वामी सम्राट् चन्द्रगुप्त के इतिहासपर कुछ भी प्रकाश नहीं डालता। यह ग्रन्थ वास्तव में नितान्त असाम्प्रदायिक एवं अनात्मवैज्ञानिक दृष्टि से लिखा गया है, और अपने वर्तमान रूप में पर्याप्त त्रुटित एवं क्षेपकपूर्ण है।

(३) तीसरा आधार बौद्ध अनुश्रुति है। मोग्गल्लन के बौद्ध इतिहास ग्रन्थ 'महावंश' में चाणक्य ब्राह्मण द्वारा क्रोधवेश में धननन्द का नाश करके मौर्यों के वंशज चन्द्रगुप्त को सकल जम्बूद्वीप का राजा बनाने का उल्लेख करते हुए चाणक्य को तक्षशिला के एक ब्राह्मण का पुत्र, तीनों वेदों का ज्ञाता, शास्त्रों में पारंगत, मन्त्र विद्या में निपुण और नीति शास्त्र का आचार्य बताया है। महावंश के अतिरिक्त 'वंसत्थप्पकासिनी' (सिंहली संस्करण) जिसके कि आधार थेरवादियों की 'सीहलट्ठ कथा' तथा धम्मरुचिकों की 'उत्तर विहारट्ठ कथा' हैं, और 'महाबोधिवंस' 'महापरिनिर्वाणसुत्त' 'नन्दपेतवत्थु' आदि ग्रन्थों में भी चन्द्रगुप्त, चाणक्य, नन्दों, मौर्यों आदि के सम्बन्ध में कुछ सामान्य संक्षिप्त उल्लेख हैं। वंसत्थप्पकासिनी के अनुसार राजा धननन्द बड़ा दानशील था, उसकी दानशाला में नित्यप्रति दान वितरण होता था और लगभग एक करोड़ मुद्रा प्रतिवर्ष इस प्रकार दान की जाती थीं। इस कार्य के लिये राजाने एक दानाग्र (दान विभाग) स्थापित किया था जिसकी व्यवस्था एक संघ (समिति) द्वारा होती थी और उसका अध्यक्ष शास्त्रार्थ में विजयी सर्वाधिक विद्वान् होता था जो कि 'संघब्राह्मण' कहलाता था। संयोगवश अपनी योग्यता के बल से चाणक्य को यह पद प्राप्त हुआ किन्तु उसकी असह्य कुरूपता के कारण राजा ने उसे बलपूर्वक दानशाला से निकलवा दिया। अतः नन्द, क्रोधी चाणक्य का कोप भाजन हुआ और

चन्द्रगुप्त की सहायता से नाश को प्राप्त हुआ। इस प्रकार बौद्ध अनुश्रुति से भी चन्द्रगुप्त चाणक्य की जीवन सम्बन्धी घटनाओंपर विशेष अधिक प्रकाश नहीं पड़ता, और फिर ये ग्रन्थ भी सुदूर सिंहल में उक्त घटनाओं से एक सहस्राब्द के उपरान्त ही लिखे गये हैं।

(४) चौथा आधार जैन साहित्य और अनुश्रुति है। इस आधार की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह चन्द्रगुप्त मौर्य एवं मन्त्रीश्वर चाणक्य दोनों ही विविक्षित व्यक्तियों के जीवनपर आदि से अन्ततक—दोनों के ही जन्म से उनकी मृत्युतक अच्छा विशद प्रकाश डालता है, साथ ही इस आधार का प्रामाणिक सिलसिला प्रायः उक्त व्यक्तियों के समय से ही प्रारम्भ हो जाता है और शनैः शनैः विकास को प्राप्त होता हुआ मध्यकाल तक चला आता है। विपुल, विविध, विशद व्यापी, प्रायः परस्पर एवं पूर्वापर अविरुद्ध, प्रामाणिक एवं प्राचीनतम होते हुए भी, खेद इसी बात का है कि इतिहासकारों के हाथों इसकी बहुधा उपेक्षा ही हुई है और इसका जैसा चाहिये था वैसा उपयोग नहीं हो पाया।

इस आधार को निम्नलिखित पाँच श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—

(अ) दिगम्बर कथा साहित्य—शिवार्य की भगवती आराधना (? ली शताब्दी ई० पू०), उसकी टीकाएँ (४ थी से १२ श०), हरिषेण का बृहत्कथाकोष (९३१ ई०), प्रभाचन्द्र की आराधना सत्कथा प्रबन्ध (१०५० ई० लगभग), श्रीचन्द्र का कथाकोष (१२वीं १३ वीं श०), ब्रह्मनेमिदत्त का आराधना कथाकोष (१५३० ई० लगभग) आराधनासार कथा कोष, पुण्याश्रवकथाकोष इत्यादि

(ब) श्वेताम्बर आगम साहित्य—विशेषकर उत्तराध्ययन एवं आवश्यक सूत्रपर रची गयी निर्युक्तियाँ एवं चूर्णियाँ, हरिभद्रीय आवश्यक वृत्ति देवेन्द्रगणि कृत सुखबोध आदि।

(स) ऐतिहासिक ग्रन्थ—हेमचन्द्राचार्य कृत स्थविरावलि चरित्र अथवा परिशिष्टपर्व, रत्ननंदि आचार्यकृत भद्रबाहु चरित, देवचन्द्रकृत राजावलिकथे आदि।

(द) फुटकर ग्रन्थ—यथा प्राकृत मरणसमाहि आदि।

(य) जैन शिलालेख—दक्षिण भारतस्थ मूडबद्री आदि स्थानों में उपलब्ध सम्राट् चन्द्रगुप्त सम्बन्धी अनेक प्राचीन शिलालेख, सम्राट् प्रियदर्शी के शिलालेख, कलिंग सम्राट् खारवेल के अभिलेख, सुदर्शन झील वाला लेख आदि।

और इन सब जैनाधारों का मूलस्रोत दिगम्बर आम्नाय का 'अङ्गबाह्य श्रुत' था जिसके कतिपय अवशेष, दिगम्बर, श्वेताम्बर संघभेद के पश्चात् श्वेताम्बर 'पयन्नासमूह' के रूप में प्रसिद्ध हुए। उक्त अङ्गबाह्यश्रुत अथवा पयन्नों की विषय सामग्री संक्षिप्त गाथाबद्ध सूत्र रूप में गुरु परम्परा द्वारा मौखिक द्वार से चन्द्रगुप्त चाणक्य के समय से लगभग १०० ई० पू० तक अस्खलित, अविकृत रूप में ही चली आयी थी, तत्पश्चात् वह परम्परागत अनुश्रुति भी अन्यों के साथ साथ लिपिबद्ध भी होना प्रारम्भ हो गया और मौखिक द्वार से

भी वाचक गुरुओं की परम्परा द्वारा सुरक्षित रहती चली गयी। अवश्य ही कालदोष तथा नित्यप्रति वृद्धिगत एवं विस्तार को प्राप्त होते हुए सम्प्रदायों, सघों, गणों, गच्छों आदि के कारण वास्तविक घटनाओं की एक मूल अनुश्रुति भी कई विभिन्न धाराओं में बँटकर कुछ सामान्य अन्तरो को लिये हुए कुछ विविध, विकसित एवं सदोष भी होती चली गयी। तथापि विवक्षित घटनाओं के सम्बन्ध में अन्य सर्व अनुश्रुतियों और आधारों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है।

उपर्युक्त जैन आधारों का—आधार (य) को छोडकर और विशेषरूप से (ब) अर्थात् श्वेताम्बर साहित्यका मुनि श्री न्याय विजयजीने अपने लेख 'चाणक्य और उसका धर्म'[1] में आर्य चाणक्य को जैन धर्मानुयायी सिद्ध करने में सफलतापूर्वक उपयोग किया था। आधार स य, का और कुछ अंश में अ, का उपयोग भी अनेक पाश्चात्य, पौर्वात्य विद्वान् सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य और अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु का गुरु-शिष्य सम्बन्ध, चन्द्रगुप्त का जैनत्व तथा जैन-मुनि के रूप में संघ सहित दक्षिण को विहार करना, वहा श्रवणबेलगोल के निकट चन्द्रगिरि पर्वत पर निवास करना और समाधिमरण को प्राप्त होना आदि के सिद्ध करने में सफलता के साथ कर चुके हैं। फलस्वरूप सम्राट् चन्द्रगुप्त के जैनधर्मानुयायी होने में अब प्राय किसी इतिहासज्ञ विद्वान् को सन्देह नहीं है। अभी कुछ दिन हुए, लखनऊ विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास-विभागाध्यक्ष प्रो० सी० डी० चटर्जी महोदय ने डा० विमल चरण ला अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित अपने एक विद्वत्तापूर्ण विस्तृत लेख मे जैनाधार अ ब, स का कुशल उपयोग करते हुए चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रारंभिक जीवन और प्रसंगत मन्त्रीराज चाणक्य के भी प्राथमिक जीवन सम्बंधी घटनाओं पर अभूतपूर्व प्रकाश डाला है।

किन्तु आपके लेख का जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंश है वह उक्त जैनाधारों का विद्वत्ता पूर्ण विवेचन है, यद्यपि उसमें कई स्थलों पर पर्याप्त मतभेद की गुञ्जायश है और कोई कोई विचार भ्रमपूर्ण भी प्रतीत होता है, फिर भी उक्त विवेचन अतीव उपयोगी एवं उद्धृत करने योग्य है। अतः आपके शब्दों में "जैनियों का प्राकृत एव संस्कृत लौकिक साहित्य चन्द्रगुप्त एव चाणक्य सम्बन्धी अनुश्रुति की कमसे कम दो धाराएँ प्रस्तुत करता है, जिनमें से एक (श्वे०) आवश्यक एवं उत्तराध्ययन (आगम सूत्रों) की व्याख्याओं में उपलब्ध होती है और दूसरी विशेषरूप से (दिग०) जैन कथासाहित्य में। 'आवश्यक' की परम्परा मूलतः वही है जो 'उत्तराध्ययन' की, यद्यपि इन दोनों के बीच कतिपय तत्सम्बंधी गौण बातो में कुछ अन्तर है। इन दोनो ही (श्वे०) अनुश्रुत धाराओं के बीज उक्त दोनो आगम सूत्रों पर निर्युक्तियों अर्थात् संक्षिप्त पद्य व्याख्याओं में उपलब्ध होते है।

1 अनेकान्त वर्ष २ किरण १ पृ० १०५

कालान्तर में, प्राचीन जैन विद्वानों ने, जिन्होंने निश्चय ही जैन आम्नाय में गुरु परम्परा से चले आये उक्त कथानकों को विश्वस्त रूप से सुरक्षित रक्खा था, उन्हें विविध उपाख्यानों के संवर्धन से विकसित किया, ये कथानक अथवा उपाख्यान इस प्रकार अनेक शताब्दियों तक वाचक गुरुओं की परम्परा में मौखिक द्वार से स्मृति में सुरक्षित रहते चले आये। कितने काल तक चन्द्रगुप्त चाणक्य सम्बधी अनुश्रुतियाँ केवल स्मृति में ही सुरक्षित रहती रहीं, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, किन्तु यह सम्भव नहीं है कि ऐसा देवर्द्धि क्षमा श्रमण की प्रसिद्ध वल्लभी वाचनाके—जो वीर निर्वाण (लगभग ४८६ ई० पू०)[1] से ९८० अथवा ९९३ वर्ष पश्चात् हुई थी—उपरान्त रहा हो। यह वाचना श्वेताम्बर सिद्धान्त और उसकी व्याख्याओं के संकलन एवं लिपिबद्ध करने के लिये हुई थी।

चन्द्रगुप्त सम्बन्धी अनुश्रुति का सर्व प्रथम लिखित रूप सम्भवतया आवश्यक निर्युक्ति की चूर्णि[2] में उपलब्ध होता है। उसके आधार पर सन् ७४०-७७० ई० के बीच किसी समय विद्याधर कुल (गच्छ) के प्रसिद्ध जैन टीकाकार हरिभद्रसूरि ने चन्द्रगुप्त चाणक्य की कथा को बड़े विशद रूप में वर्णन किया और उसमें बहुत-सी प्रसग की बातें भी सम्मिलित कीं, किन्तु ऐसा जो कि विश्वास किया जाता है उन्हें उस सम्बध में मौखिक परम्परा से प्राप्त हुई थी। यह कथा श्वेताम्बर आगम के द्वितीय मूलसूत्र 'आवश्यक' पर उनके द्वारा सस्कृत में रची गई 'आवश्यक सूत्रवृत्ति' में उपलब्ध होती है। उसके लगभग तीन शताब्दी पश्चात् श्वेताम्बरों के प्रथम मूलसूत्र 'उत्तराध्ययन' पर अपनी व्याख्या में देवेन्द्रगणि ने यह कथा प्राकृत भाषा में नये सिरे से लिखी, जिसके बीच बीच में उन्होंने प्राकृत एवं सस्कृत पद्यों का भी समावेश किया। उनकी यह टीका 'सुखबोध' नाम से प्रसिद्ध है और सन् १०८३ ई० में समाप्त हुई प्रतीत होती है। यह बात सुस्पष्ट है कि देवेन्द्रगणि ने 'आवश्यक वृत्ति' में वर्णित चन्द्रगुप्त चाणक्य की कथा की उपेक्षा की, किन्तु साथ ही साथ यह बात भी उतनी ही सत्य है कि उन्होंने अपने कथानक को मूलत 'आवश्यक चूर्णि' पर आधारित किया, जिसमें से उन्होंने अपनी कथा का प्रकृत पाठ बहुलता

1 इस विद्वान् लेखक के मतानुसार महावीर निर्वाण सन् ४८६ ई० पूर्व में हुआ था। किन्तु प्रबल प्रमाणाधारों से यह बात भले प्रकार सुनिश्चित हो चुकी है कि महावीर निर्वाण ५२७ ई० पूर्व में हुआ था।

(ज्यो० प्र० जै०)

2 आवश्यक निर्युक्ति चूर्णि—पृ० ५६३ ५६५ (जैन बधु प्रिंटिंग प्रेस इन्दौर १९२८ ई०)

नोट—यह बात केवल श्वेताम्बर अनुश्रुति के लिये कही जा सकती है, क्योंकि दिगम्बर अनुश्रुति (कथासाहित्य) एवं आगमों का लिपि बद्ध होना तो पहली शताब्दी ई० पूर्व से ही प्रारंभ होगया था। श्वे० आगमों पर निर्युक्तियाँ वराहमिहिर ज्योतिषी के भाई श्वे० आचार्य भद्रबाहु द्वारा ६ ठी शताब्दी ईस्वी में रची गईं, तदनन्तर चूर्णियाँ बनीं।

(ज्यो० प्र० जै०)

के साथ उद्धृत किया है, संभवतः उनका उद्देश्य मूल कथा को उन कतिपय संशोधनों एवं परिवर्तनों के साथ पुन: निर्मित करने का था जो कि उनकी स्वगुरुपरम्परा द्वारा सम्मत थे अथवा उस आम्नाय में, जिससे उनका स्वयं का सम्बंध था, स्वीकृत थे। विविक्षित कथानक का एक अन्यरूप 'स्थविरावलि चरित्र' अर्थात् 'परिशिष्ट पर्व' में उपलब्ध होता है, जिसे कि हेमचन्द्रसूरि ने अपने 'त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित्र' नामक ग्रन्थ के परिशिष्ट रूप में लगभग सन् ११६५ ई० में संस्कृत पद्य में रचा था। यह कथानक प्रधानत: हरिभद्रीय आवश्यक वृत्ति में वर्णित कथा पर आधारित है और २७६२ श्लोक प्रमाण है। इस सम्बधमें यह कहा जा सकता है कि अनुश्रुति का वह अंश जो चन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक के पश्चाद्वर्ती समय से सम्बंधित है, चाहे हरिभद्र द्वारा अथवा देवेन्द्रगणि द्वारा वर्णित हुआ हो, इतिहास में अधिक महत्त्व नहीं रखता।'

इस अनुश्रुति की दूसरी धारा का, जो कि विशेषरूप से जैन कथा साहित्य (दिगम्बर) में उपलब्ध होती है, सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधित्व हरिषेण के 'वृहत्कथाकोष'[2], प्रभाचन्द्र के 'आराधनासत्कथाप्रबंध', ब्रह्मनेमिदत्त के आराधनाकथाकोष, तथा श्रीचन्द्र के 'कथाकोष'[3] में प्राप्त होता है। जहाँ तक इन ग्रन्थों के साहित्यिकरूप का सम्बंध है, हरिषेण और नेमिदत्त के कथाकोष संस्कृतपद्य में हैं और श्रीचन्द्र का प्राकृत पद्य में। उक्त कथानक सहित प्राकृतगद्य में कोई कथा कोष अधुना ज्ञात नहीं हुआ है, जबकि प्रभाचन्द्र का ग्रन्थ संस्कृत गद्य में है। इन चारों कथा कोषों में सर्व प्राचीन और संभवतया सर्वाधिक महत्त्व पूर्ण हरिषेण (९३१ ई०) का कथाकोष है और सबमें अन्तिम नेमिदत्त (लगभग १५३० ई०) का, जबकि शेष दोनो बीच के काल में रचे गये।[4] उक्त चारो ही ग्रन्थकारों ने अपनी अनुश्रुत कथाएँ जैनो (दिग०) के एक प्राचीनतर आराधनाग्रन्थ-अर्थात् शिवार्य, शिवकोटि अथवा शिवकोट्याचार्य के 'भगवती आराधना'[5] से प्राप्त की प्रतीत होती है।

* लेखक के इस कथन का कारण यह प्रतीत होता है कि चूंकि चन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक के उपरान्त का इतिहास आधुनिक विद्वानों ने अन्य जैनेतर आधारों से भली प्रकार सुनिश्चित कर लिया है, अत उसमें जैनाधारों में वर्णित अनुश्रुति के साथ कहीं २ विरोध होने के कारण उस सम्बंध में जैन अनुश्रुति को महत्त्व नहीं देना चाहिये।

२ वृहत्कथाकोष—डा० ए० एन० उपाध्ये द्वारा सपादित, पृ० ३३९-३३८, बम्बई १९४३

३ वही, भूमिका पृ ५७ फ

४ वही—प्रशस्ति श्लो० ११-१२ (=९३१-९३२ ई०), winternity—Hist of Ind lit ii p 514

५ यह आराधाना अथवा मूलाराधना भी कहलाता है (मूलाराधना—सं० टीका तथा हि० अनुवाद पत्रा १५५६—शोलापुर १९३५), डा० उपाध्ये का यह कहना कि इस ग्रन्थ की भाषा शौरसेनी प्राकृत है, ठीक ही है (वृहत्का भू० पृ० ५०). किन्तु वह अमिश्रित नहीं है, क्योंकि उसमें अर्धमागधी शब्द भी पर्याप्त संख्या में प्रयुक्त हुए है।

अङ्गबाह्यश्रुत (उपलब्ध) का पूरा पूरा उपयोग किया था'', पयन्नों के काल की अन्तिम उत्तरावधि अधिक से अधिक १०० ई० पूर्व मानी जा सकती है।'' अतः यह असंभव है कि चाणक्य और चन्द्रगुप्त कथानक का जो प्राचीन रूप पयन्नों में निहित है वह ईस्वी सन् के प्रारंभ के पश्चात् का हो। *चूंकि दिगम्बरों ने आवश्यक, उत्तराध्ययन तथा पयन्नों* को अप्रमाणिक एवं अप्रासंगिक मान कर अपने आगम से बहिष्कृत कर दिया अतः संभव है चाणक्य को जैनमुनि का रूप देना श्वेताम्बरों की ही कृति हो।* यदि यह बात ठीक भी हो तो भी हमें इस बात का समाधान करना फिर भी शेष रह जाता है कि तब चाणक्य सम्बंधी-अनुश्रुति की वे दो धाराएँ क्यों कर हुईं, जिनमें से एक आवश्यक और उत्तराध्ययन से संबंधित है और दूसरी पयन्नों से, और इन दोनों के बीच इतने अन्तर क्यों लक्षित होते है।

१० *कुन्दकुन्द, और उमास्वामी की रचनाओं का समावेश दिगम्बरों के २ रे वेद-द्रव्यानुयोग में होता है।*

११ यह विश्वास करना कठिन है कि उमास्वामी के तत्त्वार्थाधिगम सूत्र जैसा जैन सिद्धान्त एवं आचार का सारसकलन, जो जैनधर्म में वही स्थान रखता है जैसा कि बौद्धधर्म में विशुद्धिमग्ग, दिगम्बर सम्प्रदाय द्वारा अपने अङ्ग एवं अङ्गबाह्य साहित्य का स्वरूप एवं आकार भली प्रकार सुनिश्चित कर लेने के भी पूर्व रचा जा सका हो।

* यह कथन सत्य नहीं मालूम होता। जैन अनुश्रुति में सर्वत्र चाणक्य अपने अन्तिम जीवन में जैन मुनि के रूप मे मिलते है। श्वे० ने उन्हें जैन मुनि का रूप नहीं दिया बल्कि श्वे० धारा के लिपि बद्ध होने से लगभग ५०० वर्ष पूर्व लिपि बद्ध हुई जैनधारा के कथा ग्रन्थों में जैसा कि ऊपर देख, आये है—वे समाधिमरण द्वारा सद्गति को प्राप्त होने वाले आदर्श जैन मुनि के रूप मे ही चित्रित हुए हैं। (ज्यो० प्र० जै०)

कतिपय प्राचीन पट्टे परवाने

[ले० श्रीयुत भँवरलाल नाहटा]

प्राचीन काल से राजाओं का प्रभाव जन साधारण पर बहुत अधिक रहा है। इसीके परिचायक "यथा राजा तथा प्रजा" नामक लोकोक्ति सर्वत्र प्रसिद्ध है। इसके दो प्रधान कारण हैं, पहला तो राजा को लोग ईश्वर मानकर उनके वचन एवं अनुशासन को मान्य करते थे और राजा के प्रसन्न होनेपर सम्मान, धनादिका लाभ होने की भी आशा रहती है। अत स्वार्थ एवं दबाव के कारण राजा लोग जिस कार्य से प्रसन्न रहें वही कार्य करने की जनता की प्रवृत्ति होती है। दूसरा है "महाजन येन गत स पन्था" "एव गतानुगतिको लोक" वाला जन मानस। वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति विचारक सुशिक्षित एवं विवेकी नहीं हो सकता। सभी समय में यही देखने में आता है कि कुछ इने गिने व्यक्ति ऊँचे उठते हैं अधिकांश व्यक्तियों के विचारों एवं प्रवृत्तियों का स्तर साधारण ही रहा करता है। अत जन साधारण को जो जिस तरफ झुकाना चाहता है प्रभावशाली व्यक्ति उसी ओर झुका सकता है। राजाओं के पास तो अनेक प्रकार के साधन एवं सत्ता रहती है अत उनका प्रभाव सर्वाधिक होना स्वाभाविक ही है। इसी बात को ध्यान में रखकर समय समय पर धर्म प्रचारकों ने अपने धर्म के प्रति राजाओं एवं विशिष्ट अधिकारियों को आकर्षित करने का लक्ष्य रखा व प्रयत्न किया है।

भारतवर्ष के इतिहास का सिंहावलोकन करने पर यह स्पष्ट होता है कि राजाओं से अधिक प्रभावशाली व्यक्ति यदि कोई होता था तो वह धर्मप्रचारक। क्योंकि भारत अध्यात्म प्रधान देश है यहाँ त्याग, तपश्चर्या एवं धर्म के प्रति सब समय अत्यधिक आदर रहा है। अत राजा महाराजा भी धर्मप्रचारक महापुरुष ऋषि मुनियों के पैरों में अपना मस्तक झुकाते थे। भ० महावीर के समय पर ही विचार करें तो कितने राजा महाराजा आदि उनका जहाँ कहीं उपदेश होता बड़े भक्ति भाव से आते एवं उससे प्रभावित होकर त्याग मार्ग स्वीकार कर लेते थे। इसी प्रकार महात्मा बुद्ध का प्रभाव बौद्ध ग्रन्थों से भलीभाँति विदित होता है। उसके पश्चात् सम्राट अशोकने बौद्ध धर्मका कितना जबरदस्त प्रचार किया व सम्राट् सम्प्रति ने जैन धर्मका, यह जैन एवं बौद्ध साहित्य से स्पष्ट है। दक्षिण में दि० सम्प्रदाय को जहाँतक आश्रय मिला वहाँ तक उसकी बढ़ती होती ही गयी। मारवाड़ एवं गुजरात में श्वे० सम्प्रदाय को राजाश्रय मिला तो उसका सितारा चमक उठा। जैन इतिहास के विद्यार्थी से भी ये बातें अपरिचित नहीं हैं।

मध्यकालीन भारतीय इतिहास से यह भी ज्ञात होता है कि अपने अपने धर्म एवं सम्प्रदाय का प्रभाव बढ़ाने के लिये राजाओं को आकर्षित करने के लिये धार्मिक नियमों पर

राजसभाओं में बड़े-बड़े शास्त्रार्थ किये जाते थे। कहीं कहीं उनमें यह शर्त भी तय हो जाती थी कि जिस धर्मका आचार्य शास्त्रार्थ में निरुत्तर व परास्त हो जाय उसे उस राज्य में प्रवेश करने का अधिकार नहीं रहेगा; अतः राजाश्रय नष्ट होनेपर अन्य सम्प्रदायवालों को बडी विपत्ति का सामना करना पडता था। राज्याश्रय प्राप्त करना धर्म प्रचार का प्रमुख साधन बन चुका था। इस बात को ध्यान में रखकर जैनाचार्यों ने भी अनेक राजा महाराजाओं पर प्रभाव डालकर समय पर धर्मोन्नति की है। श्वे० आचार्य बप्पभट्टि सूरि के आम राजा एव आचार्य हेमचंद्र के कुमारपालको जैन धर्म का प्रतिबोध देकर शासन प्रभावना करने का वर्णन अनेक ग्रन्थों में विस्तार से किया है और वे शासन प्रभावक महापुरुष माने गये है।

भारतीय नरेशों की विलासिता एवं पारस्परिक फूट के कारण बाहर से आकर मुसलमानों ने अपना शासन जमा लिया। पहले-पहल उनका आक्रमण अपना राज्य स्थापित करने के लिये नहीं हुआ। पर भारत धन धान्यादिमे बहुत समृद्ध था उसी पर उनकी आँखें लगी हुई थीं। किन्तु जब उन्होंने देखा कि यहीं-वालोंसे हमें सहायता मिल रही है तो वे कब चूकनेवाले थे। मुसलमानी शासन से भारत को सबसे अधिक महत्व का यदि कोई नुकसान हुआ तो धार्मिक एव- सास्कृतिक दृष्टि से हुआ। मतान्ध मुसलमानों ने अपने धर्म का प्रचार बडे अन्याय एव क्रूरता के साथ किया। भारतीय धर्मोंके प्राचीन स्मारक कलापूर्ण मन्दिर-मूर्तियों आदिका जिस हृदयहीनता से विनाश किया गया वह कभी भी भूला नहीं जा सकता। स्थानीय जनता के साथ जिस बर्बरता—अमानुषिक ढग मे वे पेश आये उसका वर्णन पढने से ही रोमाच होने लगता है। अतः कुशल जैनाचार्योंने स्वधर्म रक्षा के लिये उन मुसलमान शासकों को प्रभावित करना उचित समझा। कुछ जैन व्यापारियों का मुसलमान ग्राहकों मे अच्छा सम्बन्ध था कई जैन व्यक्ति उनके शासन सचालन में अधिकारी रूप में योग देते थे। उनकी मारफत मुसलमान सम्राटो एव सूबेदार, वजीर आदि से मिलकर जैनाचार्य उन्हे प्रभावित करते और उनको अपने धर्मपर किये जानेवाले अत्याचारों से बचाते, अत्याचार का सशोधन करवाते, इसीसे विधर्मी शासकों के हाथ से जितनी क्षति अन्य हिन्दू समाज को हुई उसके शतांश में भी जैन धर्म को नहीं हुई, यह उन्हीं दूरदर्शी कुशल जैनाचार्यों की बुद्धिमत्ताका ही सुफल है। कलकत्ते में पुरातत्त्वविद मुनि जिन विजयजीने अपने एक भाषण मे इसकी प्रशसा बडे ही गौरव के साथ की थी। उन्होंने कहा था कि गुजरात में आज ४०० वर्ष पुराना भी कोई हिन्दू मन्दिर सुरक्षित नहीं है तब जैन मन्दिर हजार आठसौ वर्षों के बहुत बडी सख्या में सुरक्षित हैं एवं प्राचीन ग्रन्थ भी ताड़ पत्रादिपर लिखित जैन भडारों में १००० वर्षोंके सैकडों मिल जायँगे पर किसी भी जैनेतर सग्रहालय में एक भी प्राचीन प्रति नहीं मिलती। इस बात पर गंभीरता से विचार करने पर उस समय के जैन मुनियो एवं श्रावकों ने स्वधर्म रक्षा एवं उन्नति के लिये कितना

महान् कार्य किया। यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता। उन्होंने अपने कलापूर्ण मंदिरों एवं चमत्कारी मूर्तियों और ग्रन्थों को बचाया ही नहीं, पर उस विकट समय में जबकि चारों ओर त्राहि-त्राहि मच रही थी, साहित्य एवं धर्म की बात जाने दीजिये लोगों को जान के लाले पड़ रहे थे, हजारों नई जैन जैनमूर्तियाँ बनवायीं सैकड़ों मन्दिर बनवाये। हजारों ग्रन्थ निर्माण किये, नये लिखवाये, बड़े-बड़े तीर्थ यात्रा के संघ उन्हीं मुसलमान सम्राटों से फरमान प्राप्त कर निर्विघ्नतापूर्वक निकाले, अपने धार्मिक उत्सवों को बढ़ाया अर्थात् बड़ी भारी उन्नति की। इसकी तुलना में आज के (सब साधनों के होते हुए भी) जैन समाज की क्या हालत हो रही है? कहने पर दो बूँद आँसू बहाये बिना नहीं रहा जाता। कहाँ हमारे पूर्वजों ने उस विकट परिस्थिति में धर्मका महान् उद्योग किया और कहाँ आज की निमाल्य जैन जनता। आज सब प्रकार के साधन सुलभ है पर हम उनकी ओर कोई भी ध्यान नहीं देते। वास्तव में यह सर्वथा सत्य है कि धर्म पंगु है। उसके चलानेवाले ही उसकी उन्नति एवं अवनति हैं "न धर्मो धार्मिके बिना"।

जैनाचार्य जिनप्रभ सूरिजीने सम्राट् मुहम्मद तुगलक को जैन धर्म के प्रति आकर्षित कर कैसा धर्मोद्योग किया इस पर अपने शासन प्रभावक जिनप्रभ सूरि "निबन्ध" में प्रकाश डाल चुके है एवं सम्राट् कुतुबुद्दीन और सिकन्दरको चमत्कृत करनेवाले जिनचन्द्रसूरि व जिनदत्तसूरिका वृत्तान्त भी अपने ग्रन्थ एवं लेखमें दे चुके है। सम्राट् अकबर पर हीर विजयसूरि व भानुचन्द्रका प्रभाव प्रसिद्ध ही है एवं जिनचन्द्रसूरि, जिनसिंहसूरि, पद्मसुन्दरादिके सम्बन्ध में भी प्रकाश डाला जा चुका है। यह प्रभाव कितना व्यापक एवं स्थायी हुआ। इसका परिचय इस लेख में प्रकाशित कतिपय पट्टे परवानों की नकलों से पाठकों को मिल जायगा। बादशाही प्रभाव के कारण राजा लोग भी आचार्यों की सतति को बहुत ही श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। इसीलिये ये प्रकाशित सभी पट्टे परवाने जोधपुर के राजमान्य वैद्यवर उदयचन्द्रजी गुर्रांसा के पास हैं उनके पास से नकल करके यहाँ प्रकाशित किये जा रहे हैं, इससे भूतकालीन जैन धर्मके गौरव एवं यतियोंके प्रभावादिका अच्छा परिचय मिलता है। इस प्रकार के पचासों पट्टे परवाने अन्यत्र भी मिलेंगे उन्हें प्रकाश में लाने का नम्र अनुरोध है। अन्यथा वे भण्डारों में पड़े पड़े सड़ जायँगे और दीमक के भक्ष्य बन जायँगे और जैन इतिहास के महत्वपूर्ण साधन नष्ट हो जायँगे। आशा है उनकी सुरक्षा एवं प्रकाशनकी ओर शीघ्र ध्यान दिया जायगा।

छाप महाराजा विजयसिंहजी रो

१

मुताबिक २ मुआफिक फरमान आलासान तमाम हिन्दुस्थान के बादशाह के हजरत अकबर बादशाह व जहाँगीर बादशाह, हजरत शाहजहा बादशाह, हजरत आलमगीर

औरंगजेब बादशाह, हजरत महमद फरुखशियर बादशाह गाजी हजरत महमदशाह बादशाह, हजरत अहमदशाह बादशाह, हजरत आलमगीर सानी बादशाह, हजरत बादशाह गाजीशाह आलम गरज इन तमाम बादशाहान के फरमान के मुताबिक दरजा और ताजीम व दाद व सनद तमाम व अलकाब व आदाब जगत् गुरु आचारज श्री पूज्य श्रीजी महाराज प्रभु व हरि (श्री ?) जिनचंद जैन बादशाह देवशरण श्रीचरण व श्री जिन चिरंजीव श्री जिनराज भोर (सूरि ?) जी श्री जिन रत्ता (रत्न ?) भोर (सूरि ?) जी श्री चे-(क्षे ?) म लाभ सागरजी श्री जिनसल जी देव व जगतगुरु भोज धरम सतगुरु श्री ज्ञानभद्रजी वनेसेजी, वनेमागरजी, वेलचजी जब बादशाही दरबार में पहुँचे तब ताजीम परणाम दगडोत और तस्लीमात की बादशाह ने अपने तखतपर बिठाया और इनकी ताजीम में तखतखाश और तखत खाँ और छवर छाया गीर वगैरा खास व पालकी व मोरछल आफता बीजरीन और सोने और चाँदी की चोब, सिंहासन, करमसी जरींन भेट फरमाई और हजरत बादशाहने फरमान जारी किया कि यह मरतबा और दस्तूर हमेशे जारी रखना चाहिये और सबको चाहिये के तमाम कौम मुसलमान और हिन्दू वगैरा गुरुजी की ताजीम करें और अपना गुरु समझें और फर्श या अंदाज डालकर शहर में इज्जत व ताजीम से ले जावें और श्री गुरुजी के सामने दराडोत और तस्लीमात बजा लावें और ताबेदारी के कायदो से बाहर न होवें और हर घर से एक रुपया और एक अदद नारियल फसल व फसल और माल व माल नजर व नयाज देते रहें और यह दस्तूर तमाम हिन्दुस्थान में हमेशे हमेशे जारी रहे। और किसी तरह से तरफ्फुर व नवल्लुल न होवेगा खशूसन तमाम कौमें मुसलमानों की और हिन्दुओ की तावेदारी से बहुत ताजीम और दंडोत तमाम गुरुओं की बजा लावें और इन तमाम गुरुओंको मुरशिद और धरम सत्पूज्य गोस्वामीनाथ और परमेश्वररूप अपना जानें और आदाब बजा लावें और तस्लीम और आदाब बजा लाने में कोई कसर और इकीका न रखें और अकबाम मजकूर से कोई तकसीर या लापरवाही इनके बारे मे साबित होगा तो यह तमाम गुरु उनको सजा देने में जो सजा इनके मजहब में मालूम होवें देवें या माफ कर देवें यह इनको अख्तियार है और यह मरातिब ताजीम के जो इनके लिये मुकर्रर है वह अगले जमाने के राजाओं में जैसे राजा वीर विक्रमादीत और राजा सालिवाहन वगैरा तमाम राजगान चक्रवर्ती और महाराजा श्रीजयचंद्रजी व इनके लश्कर व फौज रखते थे और महाराजा चौहान और कुल राजगान छोटे और बड़े भी मरातिब ताजीम के इन गुरुओंके लिये बहाल रखते थे बल्कि अपनी तरफ से दुगनी ताजीम बजा लाते थे और हिन्दुस्थान के तमाम के तमाम बादशाहों के फरमानों के मुताबिक इन गुरुओं के मरातिब और मनासिब जैन बादशाह जगतगुरु पूज्य परम सतगुरु श्री वनेमागरजी और श्रीजगतगुरु पूज्य श्रीहेमराजजी देवश्री देवचरण यह

दोनों ओर जो लायक चेले सागर पन्ना के जहाँ कहीं होवें उनकी नशस्ति दरबार में निहायत ताजीम के साथ होगी और शहर में जो इस दरबार के तहत और तमरूफ में है वैसी ही मशतिक ताजीम और तावेदारी बजा लावें। और ताजीम में कोई कसर न रखें। और यह सरकार भी सतगुरु पूज्य अपना जानते हैं और मामेला हिकमद में बुलन्द दरजा बजा लाते रहेंगे और तमाम जैनी और जैनी महाजनान वगैरा गुरु के हुक्म के तावेदार रहें और अताअत करते रहें और ताजीम इनकी वाजिब जानते रहें। और मुवाफिक परवाना जात इस सरकार ने भी और श्रीमहाराना अजीतसिंहजी और महाराना श्रीअभयसिंहजी और श्री बड़ा महाराजजीने परवाने और खास रुक्के लिखकर दिये हैं और मरातिब ताजीम का खयाल रखा गया है और छोटा चेला और बड़े चेलके तावेदार रहें और उनके हुक्म से बाहिर न जावें। हाथी और आसार और छतर तोब नुकदइ व नुलाई व आफताबीके साथ पालकी में बैठकर आवें। और उनके सामने खड़ा होकर खड़े-खड़े ताजीम बजा लाई जावे और सिरे दरबार आसन उनके लिये बिछाया जावे और रोज बरोज उनके मरातिब की ताजीम बर करार रहे अगर कोई इनकी ताजीम से इनहराफ करे तो अपने दीन से तीन लोक में पूज्य के दीन से मरदूद हो। तल्लाक तलाक तल्लाक यह तमाम गुरु परम सतगुरु हमारे हैं यह दरजे हमेशा हमेशा जारी और मुकर्रर रहे। जो इनकी ताजीम से बाहिर जावे वो नालायक नालायक नालायक।

सीताराम जी

२

सिद्धश्री राजराजेसुर महाराजाधिराज महाराजा श्रीअजीतसिंहजी कोरय लिखत महाराजाधिराज महाराजा श्री मनाइ नैणसिंघजी केन जुहार बचवारी जो। अठै रा समाचार किरपा थी जा की म्यो भला छै। राज्य का सदा भला चाहिजे, अपच राज्य बड़ा छो महा उठै की ब्योहार में कठी बात री जुदायगी न छै अठै छोडा राजपूत छै सो राज्य का काम में छै विस्वेक काम काज होवे सो लिखावता रहोला समाचार सगला अरणदराम लिख्या सो अठे तो सिवाइ मल्हार महाराज की और कोई बात न छै। अब समाचार सारा अरणदराम अरज करै लो कागद समाचार लिखावता रहोला मिती सावण सुदि १२ संवत १७७६ लिखत जैपुर स्।

इस पत्र के ऊपर के भाग में महाराजा के स्वहस्त से जन पनि आक जिय निम्नलिखित विज्ञप्ति लिखी हुई है।

जगत गुरु परमसतगुरु जैन पातसाह श्रीगुरुस्य महाराजा श्री पूज्यजी श्री १०८ श्री जयकीर्त्तिजी भट्टारकजी श्रीनैणसिंहजी देवधी चरणो की हजूर में दंडवत प्रणाम १०८ मालूम करोला। जगतगुरु पूज्य गच्छनायक हमारा वंश के परमसतगुरु छै। राठौर

कछवाह सीसोदियों के तो विशेष सदैव श्री गुरु ईश्वर रूप छै श्री कलि केवली जगतगुरु पूज्य श्रीजिनचन्द्रसूरिजी गुरुदेव महाराज की किपा कर अठा कौ राज्य छै। राज्य का श्रीगुरुदेव छै, अठारा श्री कुल गुरु छै, सदैव अठाका श्रीगुरुदेव छै, श्रीगुरु परमेश्वर रूप छै अठे दास कौ राज्यकौ प्रताप श्री गुरुदेवॉ के चरणारविन्द के प्रसाद कृपा कौ छै चरणारविन्दा डंडोत कर अठे कृपाकर पधारे तो अरज करोला, अठा कौ राजश्री गुरुदेवां कौ छै श्रीगुरुदेवां की शिष्य परंपरा कौ विशेषकर पाटधारी शिष्य को परम सतगुरु पूज्यभाव अठै सदैव रहैलो असल छत्री वंश कछवाहों सदैव परम सतगुरु पूज्यभाव राखैलो, मानैलो, मरजादन लोपै लै। मरजाद लोपैलो सो कुभी पाक में पडैलो, अठाकी अरज करोला श्रीगुरुदेव अठा पधारै सो अरज राज करौला।

३

स्वस्ति श्री महाराजाधिराज महाराजा श्रीगजसिंहजी महाराज कुवर श्रीअमरसिंहजी वचनातु जगतगुरु पूज्य परम सतुगुरु श्रीगुरुदेव जैन पातसाह भट्टारक श्री पूज्य जगम युग प्रधान श्री जिनराज सूरीसरजी नु भेंट करी लिखी दियौ सरब देस में पातसाही कागदा म लिखी भाव भगती रहसी, जती महाजन वगैरह सरब जैनी श्रीगुरुदेवा का हुकम माफक चालसी, आदेश उपदेश मानसी, भेंट निजर पधरावणी पग मडा सामेल। भाव भगती वगेरे उच्छव श्रीगुरुदेवा रे दिन दिन अधिक होसी सरब उच्छव खरतर गच्छ रा प्रथम तुसी, सरब देश में राज होसी सो उच्छव करावसी श्रीपातसाही हुकम छै। सं० १६९० वर्ष आषाढ बदी १ मु गरीदेवे श्रीमुखपर वदनी भडारी लूण।

स्वस्ति श्री महाराजाधिराज महाराज श्रीजसवतसिहजी महाराज कुवर श्रीपृथीसिंहजी वचनात् मुहणौत नैणसी दिसै सुप्रसाद वाची जो तथा जगतगुरु पुज्य परम सतगुरु जैन पातसा श्री पूज श्रीगुरुदेव भट्टारक गुरुजी ······ श्रीश्रीश्री जी देव श्री चरणा री आग्या माफक चाल जो। सामेला पगमडा पधारमणी घाडा उछरग सु की जो। पातसाही फुरमान परवाना माफक भाव भगती कर जो। पातसाही में सरब राजथान में सरब देश में श्रीपूज परम सतगुरु ऐ श्रीगुरुदेव है। भट्टारक श्री पूज है। तिके महाजना रा है महाजन मानसी अठे एतो पूज छै जगत. आचरज भट्टारक श्रीपूज परम सतगुरुदेव है सो इणाने पातसाहजी सरब राजा, राव, नवाव, खान, उमराव वगैरह सरब जगत सरब जती महाजन

वगैरह सरब जैनी परम सतगुरु श्रीगुरुदेव करी गुरू परमेसर रूप माने हैं भेट नजर पधरामणी पूजन सेवा बदगी इग्यारां करे है और दूजा भट्टारक श्रीपूज है तिणने तो महाजन कितराक जनी माने है सो विचार राखी जो सरब देसरा जती महाजन मथेन भट्टारक लुकीपाग्र वड़ वा मुँह बधा वगैरह सरब जैन इणी श्रीगुरुदेव री आगे जा में चालसी श्रीपातसाही हकुम छै। सवत् १७१६ रा माहसुदि ५ मुकाम अहमदावाद उपर आप राठौर श्री गुरुजी की इणी शिष्य परम्परा श्री मुख्य एक पाटधारी शिष्य सीमदा मरजाद मानसी राखसी परम सतगुर श्रीगुरुदेवजी—मरजाद लोपे सो महापापी।

गुप्तकालीन जैनधर्म

[ले० रमेशचंद्र चंद्रराव जैन बी० ए०, (आनर्स इन हिस्ट्री) आर० ए०]

प्राचीन भारत का इतिहास पढते या लिखते समय कुछ बातों का ख्याल अच्छी तरह से रखना पड़ता है। आज धर्म और जाति को लेकर खासी धाँधली मची है। उसीके कारण अन्यान्य धर्मों, जातियो एव प्रान्तो मे स्पष्ट रूपसे विभिन्नता का निर्माण हुआ है। लोगों में असूया, द्वेष जैसे दुर्गुण परले सिरे पर पहुँच कर जो अनबन पैदा हुई है, उसकी प्रतिध्वनि या असर मनुष्यों की विचार प्रणाली पर अवश्य हो जाती है। जिसके फलस्वरूप इतिहास को पढते समय उनकी दृष्टि पूर्व ही दूषित होजाती है। जिससे वे इतिहास का सच्चा स्वरूप नहीं जान पाते। प्राचीन भारत के इतिहास मे परधर्म सहिष्णुता तथा परमत सहिष्णुता सब कही बराबर दिखाई देती है। स्वधर्म, स्वमत तथा वैचारिक स्वाधीनता को सब अनुभव करते थे तथा उसके प्रचार के लिये उनको स्वतन्त्रता थी और साथही साथ अन्य धर्मों के सबध में वे समुचित आदर तथा प्रेम दिखा सकते थे। "यथा राजा तथा प्रजा" यह उक्ति कई बार अक्षरशः सिद्ध होती थी। स्वय राजपत्नी को भी अन्य धर्मियो के बारे मे पहले सिरे की सहानुभूति तथा प्रेम दिखाने मे कोई रुकावट न थी। तो फिर प्रजा का तो कहना ही क्या ? और तो और प्रजा की भलमनसी के दबाव के कारण अन्य धर्मियों, मदिरों तथा सस्थाओं को राजा की ओर से पुरस्कार तथा दान देने पडते। यही कारण है कि विभिन्न धर्मों में कोई भेद भाव नहीं रहता था। नागरिकों के अधिकार ऊँचे-ओहदे तथा सद्गुणों के क्षेत्र में आगे बढने के लिये धर्म किनारे ही रहता था। गुप्तकाल का अध्ययन करते हुए इस बात की ओर विशेष-तौर के ध्यान देना परम आवश्यक है। यद्यपि गुप्तराजा स्वय कट्टर वैष्णव थे फिर भी अन्य धर्मियों के साथ उदारता से तथा सहानुकंपा से पेश आते थे। ३ री, ४ थी, ५ वीं तथा ६ ठी शताब्दि में वैदिक, जैन तथा बौद्ध धर्म का आपस मे खूब मेलजोल या घनिष्ठता थी।

(२) हिन्दुस्तान के इतिहास में गुप्तकाल का महत्त्व:—

इस काल में शास्त्र, कला, शिल्प तथा साहित्य की दृष्टि से हिन्दुस्तान बहुत प्रगति कर चुका था, साहित्य की सभी शाखाओं, उप-शाखाओ को कवियो ने अपनी कलम का विषय बनाया था, सभी प्रकार के ग्रथो में राष्ट्र गाथाओं, वीरगाथाओ, प्रेमगाथाओ, पुराणों, महाकाव्यों, आख्यायिकाओ नाटको आदि की निर्मिति से साहित्य अपनी चरम सीमा को पहुँच गया था। इसी काल में महाकवि कालिदास का प्रादुर्भाव हुआ। जिसने अपनी प्रखर प्रतिभा के बलसे भारतीय साहित्य का नाम विश्वभर में उज्वल किया था। गणित तथा ज्योतिष शास्त्र की प्रगति आचार्य भट्ट वराहमिहरने बहुत अच्छे ढंग पर की थी। [ई० स० ४७६] चित्रकला, शिल्प, स्थापत्य ये कलाएँ उन्नति के

शिखर पर पहुँची था। गायन तथा नृत्य कला को बड़ा ही प्रोत्साहन मिला था। सभी गुप्त राजा विद्या के बड़े प्रेमी थे और उन्होंने नालन्दा के विश्वविद्यालय की वृद्धि के लिये अथक परिश्रम किया। युवानत्सग का कथन है कि उक्त स्थान में १० ००० विद्यार्थी विद्या ध्ययन करते थे। उनके परिपालनार्थ बड़ी बड़ी जागीरें लगी हुई थी। दुनिया भरके धर्मों शाखाओं का जैसेकि ज्योतिष, तर्क, न्याय, वैद्यक गणित भूमिति सगीत विज्ञान व्याकरण, अलंकार साहित्य और सभी धर्मों का दर्शन शास्त्र आदि अध्ययन तथा पठन पाठन वहाँ पर हुआ करता था। इस प्रकार इन सभी शास्त्रों में हिन्दुस्तान औरोंका अपेक्षा बहुत अधिक अग्रसर था। विक्रमादित्य के नामसे पंचविंन नवरत्नों का उदय इसी काल में हुआ था। कहने का अभिप्राय यह है कि उस काल में हिन्दुस्तान सभी प्रकार से उन्नत दशा में था, सब कहीं 'रामराज्य' था। उस कालका तुलना एथेन्स के इतिहास के परिक्लिज तथा रोम के इतिहास के आगस्टस के साथ करने लायक है और यही कारण है कि इतिहास लेखक इस युग को 'स्वर्ण युग' कहते हैं।

गुप्तकाल के राजा.—

हम ऊपर लिख चुके हैं गुप्तकाल के आदि पुरुष का नाम महाराज गुप्त था। यह पहले पटना के नजदीक के किसी छोटे गाव का सर्दार था और इसके पुत्र का नाम घटोत्कच गुप्त था। इसने कुछ कहने लायक काम नहीं किया। उसका पुत्र चन्द्रगुप्त नाम से प्रसिद्ध है। इसीने अपना छोटा राज्य साम्राज्य में परिवर्तित किया।। लिच्छवी कुलकी कन्या से ब्याहने के कारण इसका जीवन भिन्न दिशा में परिणत हुआ।। समुद्रगुप्त इसका लड़का था जिसकी तुलना नेपोलियन से की जाती है। इसने बड़ा ही साम्राज्य विस्तार किया। विद्या कला शास्त्र को उत्तेजन देकर भारत को स्वर्णभूमि नाम सार्थक किया। समुद्रगुप्त ने अपने काम का बयान इलाहाबाद के शिला लेखों पर अंकित कर रखा है जिसके कारण आज उपयुक्त बातें की जिससे हम परिचय पा सकते हैं। इसके पीछे दूसरा चन्द्रगुप्त उर्फ विक्रमादित्य गद्दी पर बैठा जिसके समय में गुप्तकाल वैभव के शिखर पर था। राज्य का व्यवस्था बहुत अच्छी थी प्रजा सुखी थी और इसी कारण से कर्तृत्व की सभी शाखाओं, उपशाखाओं ने चरम सीमा पायी थी। चन्द्रगुप्त के अनन्तर उसके पुत्र कुमारगुप्त ने दीर्घ काल तक राज्य किया और अपनी गद्दी स्कन्दगुप्त को सौंप दी। इसने समरांगण में पुष्यमित्र से लड़ने २ बार गति पायी। इसके बाद साम्राज्य टूक टूक हुआ। जिसपर हूणों की टोलियों ने भारत में प्रवेश किया और वैभवशाली गुप्तवंश मटियामेट हो गया।

प्रमुखता से गुप्तराजाओं का झुकाव यद्यपि वैदिक धर्मों की ओर था फिर भी उन्होंने धर्म की आड़ में बौद्ध या जैन धर्मों पर अत्याचार नहीं किया। सारे धर्म साथ साथ चल रहे थे। उनमें पक्षपात असहिष्णुता आदि दुर्गुण नहीं के बराबर थे। इस कालका इतिहास लिखने की

साधन सामग्री मे सिक्कों, शिलालेखो, स्तम्भलेखो, चीनी यात्रियों के लिखे हुए चीनी भाषा के प्रवास वर्णन बडे लाभकारी सिद्ध हुए है। चीनी यात्रियों ने भारत भ्रमण करके सभी धर्मानुयायियों का जिक्र किया है। उनमें जैनधर्म विषयक बाते भरी पड़ी है। उनके आधार पर जैन धर्म के बारे मे बहुत सी जानकारी प्राप्त की जा सकती है। अलावा इसके चार शिलालेख अन्य अन्य स्थानों पर मिले है, जिनसे जैन धर्म तथा उसकी संस्कृति की क्या हालत थी, इसका अंदाजा किया जा सकता है।

(४) **जैन शिलालेख:**—गुप्तकाल का सबसे पुराना शिलालेख उदयगिरि पहाड़ी के पास—जो मध्य प्रांत के भेलसा जिले मे है—मिला है यह प्रकृति में पाये गये टीलो पर अंकित किया है। तज्ञों के मत मे इसका समय ई० स० ४२४ माना जाता है। इस शिलालेख से अनुमान निकलता है, कि आचार्य भद्रबाहु के सम्प्रदाय के शाकर नामक शिष्य ने —यह आचार्य गोशर्माके शिष्य थे—भगवान् पार्श्वनाथ की मूर्ति स्थापित की। वह इतना जमाना बीत जाने पर भी अच्छी अवस्था मे ज्यो की त्यो बनी है। यहाँ भगवान पार्श्वनाथ का सदा का लाछन चिन्ह तो है ही, साथ साथ पिछली बाजू मे नागका बड़ा ही विशाल फन है, उसके पार्श्व मे कोई एक सेविका है। शांकर मुनि के पिता का नाम मातृभिना था, उन्हें अश्वपति की उपाधि थी, बड़े २ राजा महाराजाओं के ही लिये जो उपयुक्त होती थी। इससे यह बात सिद्ध हो सकती है कि बड़े बड़े सर्दारों, महाराजाओं पर जैनधर्म ने अपना काफी प्रभाव छोड़ा था। दूसरी महत्त्व की बात यह है कि उदयगिरि की उन पहाडियों पर हिन्दुओं के भी अन्य दो शिलालेख पाये गये है, वह वही प्रांत है जिसपर एक समय पूरी तौरसे गुप्तराजाओं का शासन था। विहार करते हुए शाकर मुनिने वहाँ पहुँचकर तथा वहाँ अपना डेरा डालकर फिर पार्श्वनाथ की मूर्ति स्थापित की और इस प्रकार उस स्थान को जैनो का पवित्र उपासना क्षेत्र बनाया, जिससे निश्चय यही प्रमाणित होता है कि उस काल मे जैनधर्म तथा वैदिक धर्मका आपसी मेल जोल निकट सा था। यद्यपि एक को राजाश्रय था, फिर भी दूसरे पर उससे कभी आघात नहीं पहुँचाया जाता था न किसीकी ऐसी सामर्थ्य थी न किसी को ऐसा अधिकार था।

दूसरा एक शिलालेख मथुरा के पास कंकालीतिला मे मिला है। २०० वर्ष ईसा के पूर्व से लेकर ई० स० १२०० तक मथुरा जैन शास्त्र तत्त्वज्ञान का केन्द्र था। वहाँ जैनों का बडा स्तूप एव विहार है। इस स्थान मे एक मचक पर तीर्थंकर की मूर्ति विराजमान है। इसका पता अब भी नहीं चलता कि यह कौन तीर्थंकर है क्योंकि वह मूर्ति नग्नावस्था में है। तज्ञों की दृष्टि मे यह लगभग ई० स० ४३२ या गुप्तशक ११३ की होगी। इसके नीचे लिखा है 'आचार्य धतिलाचार्य कोटिय्य गच्छ तथा विद्याधर शाखयजी की आज्ञा मे गुरमित्र पालिता नामक मालक की पत्नी की ओर से समर्पित।"

मथुरा जैन संस्कृति का बड़ा केन्द्र था इसके प्रमाण में इस शिलालेख का उल्लेख गर्व के साथ किया जाता है। यहाँ धर्मशील विद्वान, दानशूर लोग झुँड के झुँड में आया करते थे। जैनानुयायियों का तो वहाँ बड़ी ही चहल पहल रहा करती थी। चीनियों ने इसका उल्लेख अपने लेखों में स्पष्ट तया किया है। इस प्रकार जैन संस्कृति का मथुरा केन्द्र कट्टर हिन्दुसाम्राज्य के कलेजे के पास में गर्व के साथ फहरा करता था। तीसरा शिलालेख युक्त प्रान्त के कहाँव ग्राम जिला गोरखपुर में मिला है जो स्कन्दगुप्त के समय में खड़ा किया गया था यह २४ फीट ४ इंच स्तंभ पर लेख खोदा गया है। इसका काल १४१ गुप्तवर्ष याने ई० स० ४६० है। यह लेख इस बात को प्रकट करता है कि मद्र नामक व्यक्ति को दुनिया की क्षण भंगुरता प्रतीत हुई, उसने यहाँ पर पंच प्रमुख पाँच तीर्थंकरों की मूर्तियाँ लाञ्छनों के सहित स्थापित कीं। वे आदिनाथ शान्तिनाथ नेमिनाथ पार्श्वनाथ एवं महावीर नाम से प्रसिद्ध थीं इस तरह उसने स्वयं साधन के साथ २ जनकल्याण का रास्ता खोल दिया। मूर्तियों के नीचे शिलालेख दिखाई पड़ता है। पार्श्वनाथ की सप्तफणि ३ फीट ऊँची है उसके सिर पर छत्र के तौरपर शेषनाग फण काढ़े खड़े हैं उसके पार्श्व में दासी और दास भी खड़े हैं। इन ग्रामों के शिलालेखों से ४ थी तथा ५ वीं शताब्दि का जैन धर्म सम्बन्धी कल्पना मिल जाती है।

All these few instances prove that Jainism claimed a fairly large followrs in different parts of Northern India

इसमें कोई शक नहीं कि उत्तर भारत में अधिकांश जैनानुयायी बस गये थे। यहाँ उनके अगणित मन्दिर हैं और उसके बनने में पहले साधुस्थान के लिए उन स्थलों की बड़ी प्रसिद्धि थी। शिलालेख को पढ़ते हुए इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि उपर्युक्त स्थानों पर जैन धर्मियों की तादाद बहुत अधिक थी।

(५) चीनी यात्री —

परदेश के बहुत कम लोगोंने हिन्दुस्तान की यात्रा की। उनमें से इने गिने यात्रियों ने परिस्थिति का निरीक्षण किया और यात्रा वर्णन लिखने वाले तो गिनती के हैं। फाहियान, सुंग युन तथा युवानच्वांग प्रमुख यात्री थे, जिन्होंने अपनी यात्रा का वर्णन चीनी में किया है। गुप्तकालीन हिन्दुस्तान का इतिहास लिखने में यह बड़ा सहायक हो सकता है।

फाहियान —यह शानसी प्रांत का निवासी था। जिसने १४ वर्ष तक ७००० मील यात्रा की। इसने बुद्धधर्म की दीक्षा ली तब यह ३ वर्ष का था। बीस वर्ष की उम्र में इसकी माता ने इसको गृहस्थ बनने का बहुत आग्रह किया पर यह न माना। ६५ वर्ष की उम्र में (बौद्ध धर्म ग्रंथ) पाने की तीव्र अभिलाषायें लेकर हिन्दुस्तान की यात्रा में अकेला रवाना हुआ। शन प्रान्त को छोड़ काश्गार यारकन्द पेशावर तथा तक्षशिला से होकर हिन्दुस्तान में आया। सिंध प्रान्त को

अध्ययन करने की चाह में यातायात के साधनों के अभाव के होते हुए क्या कठिनाइयों का सामना करके मातृभूमि को छोड़ धर्म भूमि देखने को चलनेवाले दुनिया के इतिहास में शायद ही मिलेंगे। पहले वह तक्षशिला गया, बादमें उसने गन्धार को देखा। अफगान देखकर फिर अनू शहर को लौट आया। मथुरा, कन्नौज, सरस्वती, कपिलवस्तु, पटना, गया, ताम्रपाली आदि धर्म स्थानों को देखा फिर जलमार्ग से जाकर उसने सिलोन देखा और गया होकर चीनको प्रस्थान किया। पटना में तीन वर्ष रहकर संस्कृत सीखी और ताम्रपाली में दो वर्ष धर्मग्रन्थों की नकलें उतारने में बिताये।

उसके यात्रा वर्णन में ऐतिहासिक दृष्टि की अपेक्षा धार्मिक दृष्टि ही नज़र आती है। जैसे कि —आँधी के समय बुद्ध की प्रार्थना करने से संकट दूर हुआ। फाहियान ने उत्तर भारत के क्षेत्र देखे, समाज देखा और उन कालके कुछ अधूरे वर्णन लिख रखे हैं। इसमें ज़रा भी शक नहीं है कि उसकी लिखी सामाजिक स्थिति तीनो धर्मों पर घटित होती है। उसने लिखा है—"लोग जीव हिंसा के विरोधी थे, सभी सुखी थे। सजाएँ बहुत ही अल्प प्रमाण में दी जाती थीं। राजपुरुष न्यायी एवं ईमानदार थे। शराब का नाम तक नहीं था और लौ और कंदमूल तक खाने के काम में नहीं लाये जाते थे। कई राजाओं ने विहार मठ बनवाये थे जहाँ श्रमणों—भिक्षुओं के टिकने की बडी सुविधा थी। मध्य भारत के शहर विशाल एवं वैभव संपन्न थे। स्थान-स्थान पर दातव्य औषधालय और धर्मशालाएँ बनी थीं। जनता उन संस्थाओं को बडी उदारता से, दोनों हाथों उलीच उलीच कर मदद देती थी। दूसरा चीनी यात्री ह्युयानचॉंग नामका था। इसका जन्म होनान प्रांत में ६०३ ई० में हुआ था। १३ वर्ष की उम्र में बौद्ध विहार में प्रवेश कर २० वें वर्ष बुद्ध धर्म की दीक्षा ली। हरेक प्रांत में घूमा। फाहियान का अनुसरण करके धर्म-ग्रंथों की खोज करना, स्तूपों तथा देवस्थानों को देखना, मनको बेचैन करने वाली शंकाओं को भारतीय पण्डितों से निरसन कराना इत्यादि इन उद्देश्यों को लेकर वह ६२९ में यात्रा के लिये हिन्दुस्तान की ओर चल पड़ा। शान्सी प्रान्त, गोबीका रेगिस्तान, कश्मीर के रास्ते से उसने भारत में प्रवेश किया। फिर प्रयाग, मथुरा बनारस जैसे तीर्थस्थानों में १५ महीने बिताये। सारे भारत भरमें भ्रमण कर फिर एक बार हर्षवर्धन से भेंट की और सार्वधर्म परिषद के अध्यक्ष पद को विभूषित कर सरहदी प्रांत से होकर स्वदेश लौट गया। जाते समय ६५७ धर्मग्रंथ, बुद्ध की रमणीय प्रतिमाएँ, अनेकों रत्न, तथा १५० बुद्ध के अवशेष अपने साथ ले गया।

(६) जैनों के उल्लेखों के आभासः—

ये बौद्ध चीनी यात्री सिर्फ बौद्ध-धर्म-ग्रंथों की खोज में आये थे और ज्यादा बौद्ध क्षेत्र ही देखे। उन्होंने सामाजिक, राजकीय तथा धार्मिक हालतों का बड़ा ही रोचक वर्णन किया है। बनारस शहर के आसपास घूमकर जो भी कुछ देखा, तथा सुना वह लिपिबद्ध कर दिया है—

यथा —

There are a hundred or so DEVA temples with about 10 000 sectories They honour principally Mahavira Some cut there hair off other tie their hair in a knot and go naked without clothes They practice of all sorts of austerties They seek to escape from birth and death

[अनुवाद —] करीब १०० मन्दिर तथा १० ००० श्रावक मुनि ब्रह्मचारी आदि लोग भगवान् महावीर को मानने वाले थे। उनमें कोई केशलुंचन करते थे, कोई नग्नरूप घूमते थे। सभी प्रकार के व्रत तथा तप के आचरण के द्वारा जन्म मृत्यु के फेर से छुटकारा पाने की चेष्टा किया करते थे। जैन संस्कृति का आगार माना जाने वाला मथुरा नगर के लोग सज्जन और कुशल थे और धार्मिक ग्रंथों का पठन पाठन लेखन करने में बड़े तत्पर थे। इसके अतिरिक्त बिंबिसार तथा अजातशत्रु के उल्लेखों में बौद्धधर्म से कुछ तर भी प्रतीत होता है जिससे इसी मत की पुष्टि हो जाती है कि वे दोनों जैनानुयायी थे।

(७) इतिहास की दृष्टि से महत्त्व —

इस ग्रन्थ प्रवास का वर्णन चीनी भाषा में है और उसका नाम फाहियान हुआ था है। रावट विलने उसका भाषान्तर The Records of the western world नाम देकर किया है। इस अनूदित ग्रंथ में अध्ययन पूर्वक विचार-परिशीलन तथा महत्त्व की भूमिका जोड़ दी गयी है।

The records enebody the testimony of independent eye witness as to the facts related in them and having been faithfully preserved and alloted a place in the collection of the sacred books of the country Their evidence is entirely

[भाषान्तर —अपनी आँखों देखकर उसका । उसी प्रकार मूल प्रति को छिपा न करके धर्मग्रंथों के भाण्डार में उसका प्रवेश किया गया है। इस कारण उनका विश्वसनीय और प्रबल प्रमाण के लिए उपयोग करने में कोई हर्ज नहीं है। फिर वह ग्रंथकर्त्ता कहते हैं —

'We find the ample material for the study of geography, history, manners & religions of the people of India

[भाषान्तर —भारत का प्राकृतिक ऐतिहासिक सामाजिक तथा धार्मिक विषयों के सम्बन्ध की जानकारी बहुत प्राप्त होती है। फिर अनुमान से या अंदाज से नहीं, यद्यपि नीचे उद्धृत किये अनुसार जैनधर्म विषयक स्पष्ट उल्लेख मिले हैं।

Though Brahamanical Hinduism was flourishing side by side with the Budhism or Jainism the pious pilgrim gave us scanty or nothing about Budhism or Jainism, Jainism too was not tacking in

progress. Mathura was no doubt the centre of Jainism there were Jain temples, Vihars, images and adhevents throught Northern India but they have no place in this record. Budhism, that too, in exaggerated from has been pictured by him

[अर्थ.—यद्यपि वैदिक तथा जैन धर्म बौद्ध धर्म के साथ २ उन्नति कर रहे थे फिर भी इस धार्मिक वृत्ति के यात्री के सिवा बौद्ध धर्म के बहुत ही कम, बल्कि नहीं के बराबर वृत्तान्त कथन किया हुआ पाया जाता है। मात्र बुद्धों की जानकारी, वह भी बढ़ाचढ़ा कर लिखी मिलती है। जैनधर्म प्रगति पथ पर ही अग्रसर था। उत्तर भारत में कई स्थानों पर जैन मन्दिर, जैन वस्तियाँ जिन-प्रतिमाओं एवं अनुयायी दृष्टिगत होते हैं।

नीतिवाक्यामृत और सागारधर्मामृत

[लेखक—श्रीयुत पं० हीरालाल शास्त्री, दि० जैन संघ मथुरा]

नीतिवाक्यामृत के कर्ता आचार्य सोमदेव से सागारधर्मामृत के कर्त्ता पण्डित प्रवर आशाधरजी लगभग डेढ़-सौ वर्ष पीछे हुए हैं। पं० आशाधर जी पर आचार्य सोमदेव की रचनाओं का यथेष्ट प्रभाव है। उन्होंने जहां तहां अपनी रचनाओं में 'यदाह सोमदेव पण्डित' कह कर उनके ग्रंथों से प्रचुर प्रमाण उद्धृत किये हैं। पं० आशाधर जी की सबसे बड़ी कृति अनगार धर्मामृत और सागार धर्मामृत का नाम संस्करण भी आचार्य सोमदेव के नीति वाक्यामृत का ऋणी है।

पं० आशाधर जी ने नीतिवाक्यामृत के अनेकों सूत्रों को पद्यरूपी सांचे में ढालकर उन्हें ज्यों का त्यों अपनाया है। यहां ऐसे कुछ अवतरण दिये जाते हैं, जिनसे उक्त बात की पुष्टि में कोई सन्देह नहीं रहेगा।

(१) आचारानवद्यत्वं शुचिरुपस्कारः शारीरी च विशुद्धिः
करोति शूद्रमपि देवद्विजतपस्विपरिकर्मसु योग्यम् ॥१२॥
(नीतिवा० पृ० ८४)

शूद्रोऽप्युपस्कराचार वपुः शुद्ध्याऽस्तु तादृशः ।
जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्माऽस्ति धर्मभाक् ॥
(सागार ध० अ० २ श्लो० २२)

(२) प्रत्यहं किमपि नियमेन प्रयच्छतस्तपस्यतो वा
भवन्त्यवश्यं महीयांसः परे लोकाः ॥२७॥
(नीतिवा० पृ० १७)

नियमेनान्वहं किञ्चिद्यच्छतो वा तपस्यतः ।
सन्त्यवश्यं महीयांसः परे लोका जिनाश्रिताः ॥
(सागारध० अ० २, ४९)

(३) निवृत्तस्त्रीसंगस्य धनपरिग्रहो मृतमण्डनमिव ॥६॥
(नीतिवा० पृ० २२)

स्त्रीतश्चित्तनिवृत्तश्चेन्ननु वित्तं किमीहसे ।
मृतमण्डनकल्पो हि स्त्रीनिरीहे धनग्रहः ॥
(सागार अ० ६, ३६)

(४) अवरुद्धाः स्त्रियः स्वयं नश्यन्ति स्वामिनं वा नाशयन्ति ॥२१॥

(नीतिवा० पृ० २२७)

व्युत्पादयेत्तरां धर्मे पत्नीं प्रेम परं नयन् ।
सा हि मुग्धा विरुद्धा वा धर्माद् भ्रंशयतेतराम् ॥

(सागार० ३, २६)

(५) ब्राह्मे मुहूर्त्ते उत्थायेति कर्त्तव्यतायां समाधिमुपेयात् ॥१॥

(नीतिवा० पृ० २५१)

ब्राह्मे मुहूर्त्ते उत्थाय वृतपंचनमस्कृतिः ।
कोऽहं को मम धर्मः किं व्रतं चेति परामृशेत् ॥१॥

(सागार० ६, १)

(६) धर्मसन्ततिरनुपहता रतिर्गृहवार्त्तासुविहितत्वमाभिजात्याचार विशुद्धिर्देव द्विजातिथिबान्धवसत्कारानवद्यत्वं च दारकर्मणः फलम् ॥३०॥

(नीतिवा० पृ० ३७८)

धर्मसन्ततिमक्लिष्टां रतिं वृत्तकुलोन्नतिम् ।
देवादिसत्कृतिं चेच्छन् सत्कन्यां यत्नतो वहेत् ॥

(सागार० २, ६०)

(७) गृहिणी गृहमुच्यते न पुनः कुड्यकटसंघातः ॥३१॥

(नीतिवा० पृ० ३७८)

गृहं हि गृहिणीमाहुर्न कुड्यकटसंहतिम् ॥

(सागार० २, ५९)

(८) पक्वान्नादिव स्त्रीजनाद्दाहोपशान्तिरेव प्रयोजनम् ॥२७॥

(नीतिवा० पृ० ३८९)

भजेद्देहमनस्तापशमान्तं स्त्रियमन्नवत् ॥

सागार० ३, २९)

नीतिवाक्यामृत के टीकाकार का प्रमाद

श्री माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला से प्रकाशित नीतिवाक्यामृत की भूमिका मे श्री प्रेमीजी ने 'टीकाकार' शीर्षक स्तम्भ के भीतर टीकाकार के विषय मे लिखा है कि 'वे वहुश्रुत विद्वान् थे और एक राजनीति के ग्रन्थ पर टीका लिखने की उनमें यथेष्ट योग्यता थी। इस विषय के उपलब्ध साहित्य का उनके पास काफी संग्रह था और टीका मे उसका पूरा पूरा उपयोग किया गया है" आदि। सटीक नीतिवाक्यामृत का पारायण करने के बाद उक्त बात पाठकों के हृदय पर अंकित हुए

बिना नहीं रहती। फिर भी कुछ स्थल ऐसे अवश्य दृष्टि में आये जहा एक ही श्लोक को भिन्न भिन्न कर्त्ताओं के नाम के साथ उद्धृत किया गया है। आश्चर्य की बात तो यह है कि एक ही श्लोक को तीन तीन आचार्यों के नामों से उद्धृत करते हुए भी टीकाकार को स्वयं पूर्वापर विरोध प्रतीत नहीं हुआ!!! यदि उन पद्यों के रचयिताओं के विषय में विवाद था तो उसे बिना किसीका नामोल्लेख किये ही 'तथा चान्य' आदि कह कर उद्धृत कर सकते थे। समझ में नहीं आता कि एक बहुश्रुत टीकाकार द्वारा ऐसा प्रमाद कैसे हुआ?

पाठकों का इसके परिचयार्थ यहां एक उदाहरण दिया जाता है —

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-
दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः॥

इस प्रसिद्ध श्लोक को टीकाकार ने मात्र एक-दो शब्दों के हेर फेर से तीन स्थलों पर तीन ही निर्माताओं के नाम से उद्धृत किया है। यथा —

पृष्ठ १७३ पर तथा च भागुरिः,
पृ० २६४ पर तथा च शुक्रः, और
पृ० ३१२ पर तथा च वल्लभदेवः

इतने बड़े बहुश्रुत विद्वान का इस प्रकार का प्रमाद अवश्य विचारणीय है।

इसी प्रकार पृ० ११६ पर टीकाकार ने काकतालीय न्याय का भी बड़ा विचित्र अर्थ किया है। पाठकों के परिज्ञानार्थ उसका यहा देना अनुचित न होगा —

अथवा काकतालीयं यन्मूलमप्राकाममिद्दि। कोऽर्थः? तालवृक्षस्य तावद्धपरावन फल भवति, काकश्च सर्वेषां पक्षिणां सकाशादल्पायुर्विश्वासी भवति, स तस्याधो गच्छन् तत्फलेन पतता यदि हन्यते तन्मूलमप्राप्तसिद्धिरिति।

पृष्ठ १३५ पर 'स्वव्यापाय कृत्योत्थापनमिव मूलेषु राज्यमाराराधयाम्' इस सूत्र का अर्थ करते हुए कृत्योत्थापन का बड़ा ही विलक्षण अर्थ किया है।

कुछ भूलें टीकाकार के अजैन होने एवं जैन परिभाषाओं से अपरिचित होने के कारण भी हुई हैं। जैसे पृष्ठ ८५ पर सूत्रकार ने सर्व वर्णों का समान धर्म बतलाते हुए अहिंसा, सत्य आदि पांच प्रसिद्ध व्रतों का उल्लेख किया है, वहां प्रयुक्त हुए 'इच्छानियम' इस पद का सीधा-सादा परिग्रह परिमाण' अर्थ न करके 'स्वेच्छाप्रवृत्तिवृत्त' किया है जो कि भ्रामक है।

जैन प्रचारक यद्यपि लंका को समुद्र मार्ग से गये थे, पर लौटते समय वे स्थल मार्ग द्वारा दक्षिण के रास्ते से आये थे, यह बात तामिल और बौद्ध साहित्य से स्पष्ट है। अत लंका में जैनधर्म के प्रचार के साथ-साथ दक्षिण भारत में भी जैनधर्म का प्रचार ई० पू० ५०० के लगभग या इससे पहले हुआ होगा।

राजावली कथा एक प्रामाणिक ऐतिहासिक ग्रन्थ माना जाता है। इसमें बताया गया है कि विशाख मुनिने चोल और पाण्ड्य प्रान्तों में भ्रमण कर वहाँ के जैन चैत्यालयों की वन्दना की थी तथा वहाँ के निवासी श्रावकों को जैनधर्म का उपदेश दिया था। इसस स्पष्ट है कि भद्रबाहु स्वामी के पहले भी जैनधर्म दक्षिण में था, अन्यथा विशाखमुनि को जिनमन्दिर और जैन श्रावक कैसे मिलते ?

तामिल साहित्य के प्राचीन व्याकरण अगथियम[1] और उससे प्रभावित तोल्काप्याम के अध्ययन से पता लगता है कि ये ग्रन्थ एक जैनाचार्य द्वारा रचे गये हैं। विद्वानों ने इनका रचनाकाल ई० पू० ४०० माना है। अतएव स्पष्ट है कि ई० पू० ४०० के लगभग दक्षिण भारत में जैनधर्म का व्यापक प्रचार था। संगम[2]कालीन तामिल काव्य 'मणिमेखलै' और 'सीलप्पडिकारम्' से ज्ञात होता है कि इस युग में जैनधर्म समुन्नत अवस्था में था। 'संगम' युग के समय निर्धारण के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग ई० पू० २०० के पूर्व के समय का नाम संगम या प्राथमिक युग बतलाते हैं तथा कतिपय विद्वान् ई० पू० चौथी शताब्दी से ई० दूसरी शताब्दी तक के काल समूह को। यदि इस विवाद में न भी पड़ा जाय तो भी इतना तो सुनिश्चित है कि भद्रबाहु स्वामी के दक्षिण पहुँचने के पूर्व ही जैनधर्म वहाँ विद्यमान था।

कन्नड़ रामायण में बताया गया है कि श्रीमुनिसुव्रत भगवान् के तीर्थंकर काल में श्री रामचन्द्रजी ने दक्षिण भारत की यात्रा की थी, इस यात्रा में उन्होंने जैन मुनि और जैन चैत्यालयों की वन्दना की थी।

भागवत पुराण में भगवान् ऋषभदेव[3] के परिभ्रमण की एक कथा आई है। उस कथा में बताया गया है कि जिस प्रकार कुम्हार का चाक स्वयं चलता है, उसी प्रकार भगवान् ऋषभदेव का शरीर कोंक, वेंकट, कुटक इत्यादि दक्षिण कर्णाटक के प्रदेशों में गया। कुटक पहाड़ से सटे हुए जंगल में उन्होंने नग्न होकर वहाँ तपस्या की। अचानक जंगल दवाग्नि से भस्म हो गया और कोंक, वेंकट और कुटक के राजाओं ने ऋषभदेव के धर्म मार्ग को ग्रहण किया। इससे स्पष्ट है कि कुटक ग्राम, हट्टंगडि, कोंक आदि दक्षिण भारत

1 See Jaina Gazette Vol XIX P 75

2 Buddhistic Studies PP 3 68

३ जैनसिद्धान्त भास्कर भाग १० किरण १ तथा भाग ६ पृ० १०२

के प्रदेशों में जैनधर्म का प्रचार प्राचीन काल में ही था। उपर्युक्त स्थानों में हट्टेंगादि आज भी जैनियों का पवित्र क्षेत्र माना जाता है।

विष्णुपुराण में कहा गया है कि नाभि और मरु के पुत्र ऋषभ ने बड़ी योग्यता और बुद्धिमानी से शासन किया तथा अपने शासन काल में अनेक यज्ञ किये। चतुर्थावस्था में वह अपना राज-पाट अपने बड़े पुत्र भरत को सौंप कर सन्यासी हो गये और दक्षिण भारत में स्थित पुलस्त्य ऋषि के आश्रम में निवास किया। इससे स्पष्ट है कि प्रथम तीर्थंकर दक्षिण में गये थे।

हिन्दू पुराणों में एक संवाद[1] आता है, जिसमें बताया गया है कि देव और असुरों के युद्ध के बीच जैनधर्म का उपदेश विष्णु ने दिया था—"बृहस्पतिमाहात्म्यार्थं विष्णुना मायामोहसमुत्पादनम् दिगम्बरेण मायामोहेन दैत्यान् प्रति जैनधर्मोपदेशः, दानवाना मायामोह-मोहिताना गुरुणा दिगम्बर-जैनधर्मदीक्षादानम्"। अर्थात् देव-मन्त्री बृहस्पति की सहायता के लिये विष्णु भगवान् ने मोहमाया नामक एक दिगम्बर साधु को उत्पन्न किया और दैत्यों को जैनधर्म का उपदेश उससे दिलाया, जिससे दानव दि० जैनधर्म में दीक्षित हो गये। इस संवाद में एक रहस्य यह छिपा प्रतीत होता है कि विष्णु ने दिगम्बर जैन मुनि का अवतार लेकर असुरों को दीक्षा दी। यदि यहाँ यह मान लिया जाय कि असुर जिनका यहाँ वर्णन किया गया है, वे वही लोग थे जो यहाँ के आदिम निवासी थे और दक्षिण भारत के किनारे के प्रदेशों में रहते थे। ये आदिम निवासी सभ्य, संस्कृत और स्वतन्त्र थे, दास नहीं। उन्होंने आर्यों के आने के पूर्व भारत को अपने अधिकार में कर लिया था, तो इससे स्पष्ट है कि जैनधर्म का केन्द्र उस समय नर्मदा नदी के तटपर स्थित था जो कि आज भी तीर्थ स्थान के समान पूज्य है।

उपर्युक्त कथन का समर्थन काठियावाड़[1] में प्राप्त एक ताम्रपत्र से भी होता है। यह ताम्रपत्र महाराज नेबूचदनेज्जर प्रथम अथवा द्वितीय (ई० पू० ११४० या ई० पू० ६००) का है। प्रो० प्राणनाथ ने इसका वाचन करते हुए बताया था कि यह महाराजा विबलोनिया का निवासी था, वहाँ से यह द्वारिका आया था; यहाँपर इसने एक मन्दिर बनवाया और इस मन्दिर को नेमि या अरिष्टनेमि को अर्पण दिया। नेमि उस समय रैवत गिरि (गिरनार) के देव थे। इससे स्पष्ट है कि नेमि या अरिष्टनेमि जो कि जैन तीर्थंकर हैं, के प्रति नेबू की बड़ी भारी श्रद्धा और भक्ति थी। इस ताम्रपत्र में प्रतिपादित नेबू राजा को रेवानगर का स्वामी भी बताया है, संभवतः यह नगर सिद्धवर कूट के निकट का एक स्थान होगा, जो कि दक्षिण भारत में रेवा नदी के तटपर स्थित है।

---

१ विष्णुपुराण अध्याय १७, मत्स्यपुराण अ० २४, पद्मपुराण अध्याय १ और देवीभागवत स्कन्ध ४, अ० १३

1. See Indian Culture April 1938, P. 515, and Times of India, 19th March, 1935, P 9

दक्षिण भारत में जैन धर्म की प्राचीनता के जैन साहित्य में अनेक प्रमाण हैं। निर्वाण काण्ड की निम्न गाथा में बताया है—

पण्डुसुआतिणिजणा दविडणरिंदाण अट्ठकोडिओ।
सेतुजय गिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं॥

अभिप्राय यह है कि पल्लवदेश में विराजमान भगवान् अरिष्टनेमि के निकट पाण्डवों ने जिनदीक्षा ग्रहण की थी, इनके साथ दक्षिण देश के और भी कई राजाओं ने मुनिव्रत धारण किया था, जो कि पाण्डवों के साथ तपकर शत्रुंजयगिरि से मुक्त हुए थे।

महापुराण में बताया गया है कि जब कल्पवृक्ष लुप्त हो गये और कर्म भूमिका आरम्भ हो गया तो अन्तिम कुलकर नाभि राजा के पास प्रजा आयी उन्होंने उसे भगवान् ऋषभ नाथ के पास भेज दिया। प्रजाने भगवान् ऋषभनाथ से प्रश्न किया—भगवन्! कृपाकर आजीविका का उपाय बतलाइये, जिससे हमलोग सुखपूर्वक रह सकें। भगवान ने प्रजाको षट्कर्मों का उपदेश दिया। उनके स्मरणमात्र से इन्द्र अनेक देवों के साथ आ उपस्थित हुआ और उसने संकेतमात्र से ही नगर, गाँव, देश और प्रान्तों का वर्गीकरण कर दिया। तथा वहाँ जिन चैत्यालय, जिनबिम्ब एवं अन्य जैन संस्कृति के चिन्हों को प्रकट किया। बनाये गये देशों की संख्या ५२ बताओ गयी है, जिसमें दक्षिण भारत के अनेक बड़े-बड़े नगर शामिल हैं[१]—

करहाटमहाराष्ट्रसुराष्ट्राभीरकोंकणा।
वनवासान्ध्रकर्णाटकोशलाश्चोलकेरला॥
दासाभिसारसौवीरशूरसेनापरान्तकाः।
विदेहसिन्धुगान्धारयवनाश्चेदिपल्लवाः॥
काम्बोजारट्टबाल्हीकतुरुष्कशककेकयाः।

महापुराण में भरत चक्रवर्ती की विजय का वर्णन करते हुए दक्षिण दिशा के राजाओं पर की गयी विजय के निरूपण में बताया है कि[२]—

चोलिकाबालिकप्राया प्रायशोऽनृजुचेष्टितान्।
केरलान्सरलालापान्कलगोष्ठीषु चतुरान्॥
पाण्ड्यान्प्रचण्डदोर्दण्डान् खण्डितारातिमण्डलान्।

इससे स्पष्ट है कि भरत चक्रवर्ती ने चोल, पाण्ड्य, केरल आदि राजाओंको हराकर वहाँ जैनधर्म का प्रचार किया था। प्रत्येक नरेश उस युग में पर्याप्त दशों में अपने धर्म का प्रचार करता था। दूसरी बात यह है कि भगवान् ऋषभदेव के संकेत से नव इन्द्र ने

१ देखें—संक्षिप्त जैनइतिहास भा० ३ ख० १ पृ० ११४

२ जिनसेनाचार्य विरचित महापुराण पर्व १६ श्लो० १५०—१५५

प्रान्तों और देशों का वर्गीकरण किया था, उस समय जैन चैत्यालयों का निर्माण भी हुआ था, अतः उत्तर के समान दक्षिण में भी भरत चक्रवर्ती ने जैन चैत्यालयों की बन्दना करते हुए विजय प्राप्त की थी।

पोदनापुर में दक्षिण भारत के प्रथम जैन सम्राट् बाहुबली स्वामी की राजधानी बतायी गयी है, यह स्थान आज भी दक्षिण भारत में स्थित है। इसी प्रकार जैन साहित्य में पोलासपुर, मदुरा, भद्दिल आदि नगरों के नाम मिलते है। इन नगरों में भगवान् ऋषभदेव के समय में ही जैन धर्मका प्रचार बताया गया है।

दाक्षिणात्य मथुरा—मदुरा नगर, को पाण्डवों ने बसाया था। कहा गया है—

सुतास्तु पाण्डोर्हरिचन्द्रशासनादकाण्ड एवाशनिपातनिष्ठुरात् ।
प्रगत्य दाक्षिण्यभृता सुदक्षिणां जनेन काष्ठां मथुरां न्यवेशयन्[१] ॥

जब द्वारिका नगरी नष्ट हो गयी और कृष्ण अपने भाई बलदेव के साथ दक्षिण मथुरा को चले; रास्ते में कौशाम्बी के जगल में जरतकुमार ने बाण चलाया, जो कि श्रीकृष्ण के पॉव में लगा; जिससे उनका आत्मा इस नश्वर शरीर को छोडकर चला गया। जब पाण्डवो को यह दुःखद समाचार मिला तो वे बलदेव से मिलने के लिये कौशाम्बी के जंगल में आये और उन्हे समझा बुझाकर यह तय किया कि नारायण के शव का सस्कार शृंगी गिरि पर कर दिया जाय।

पाण्डव दक्षिण के पल्लव देशमें भगवान् नेमिनाथ का विहार अवगत कर मदुरा को लौट आये और भगवान् नेमिनाथ के पास जाकर जैन-दीक्षा ग्रहण कर ली। पाण्डवो के साथ और भी कई दक्षिणी राजाओ ने जैन-दीक्षा ग्रहण की, अतएव यह स्पष्ट है कि भगवान् नेमिनाथ ने दक्षिण के देशो में विहार कर जैनधर्म का प्रचार किया था।

अथ ते पाण्डवाश्चंडसंसारभयभीरवः ।
प्राप्य पल्लवदेशेषु विहरंतं जिनेश्वरम् ॥

हरिवश पुराण के एक अन्य कथानक से ज्ञात होता है कि महाराज श्रीकृष्ण का युद्ध जब जरासिन्धु के साथ हो रहा था तो दक्षिण भारत के कई राजा भी उनके पक्ष मे थे। इसका कारण यह है कि मदुरा में पाण्डवो का राज्य स्थापित हो जाने पर द्राविड राजाओं का सम्पर्क उत्तर के राजाओ के साथ घनिष्ठ होता जा रहा था। चेर, चोल, पाण्डय आदि वश के राजाओं का इनके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। इसलिये पाण्डवो के साथ इन्होंने जिन-दीक्षा ग्रहण की थी।

णायकुमार चरिउ[२] मे कहा गया है कि भगवान् नेमिनाथ के तीर्थकाल में कामदेव नागकुमार हुए थे। नागकुमार का मित्र मथुरा का राजकुमार महाव्याल था। यह महा-

१ हरिवंश पुराण सर्ग ५४ श्लो० ७३
२ सक्षिप्त जैन इतिहास भाग ३ ख० १ पृ० ११४

ज्याल पाण्ड्य देश गया था और पाण्ड्य राजकुमारी को विवाह कर ले आया था। भगवान् पार्श्वनाथ के समय में करकण्डु नामका एक राजा हुआ है। उसने अपने राज्य का खूब विस्तार कर एक दिन मंत्री से पूछा, हे मंत्री! क्या कोई ऐसा राजा है जो मुझे मस्तक न नमाता हो? मंत्री ने उत्तर दिया—उत्तर के तो सभी राजा आपकी आधीनता स्वीकार कर चुके हैं, पर द्राविड़ देश के चेर, चोल और पाण्ड्य नरेश आपको नहीं मानते। राजा ने उनके पास दूत भेजा, पर उन राजाओं ने करकण्डु की अधीनता नहीं स्वीकार की और यह कहकर दूत को वापस कर दिया कि हम जिनेन्द्र भगवान् को छोड़ और किसी को सिर नहीं झुका सकते। राजा करकण्डु को द्राविड़ राजाओं के उत्तर ने अधिक उत्तेजित कर दिया, इसमें उसने प्रतिज्ञा की कि जब तक इन राजाओं को वश में न कर लूँगा, शांति से राज्य नहीं करूँगा और इनको पददलित न करूँ तो राज्य पाट छोड़ दूँगा।

करकण्डु ने सेना सजाकर युद्ध के लिये प्रस्थान कर दिया और रास्ते में तेरापुर नगर में पहुँचा, यहाँ राजा शिवने उसे भेंट चढ़ाई तथा राजा शिव के परामर्श से पास की पहाड़ी की गुफा में भगवान् पार्श्वनाथ के दर्शन किये। उस पहाड़ी पर चमत्कार की एक बात यह थी, एक हाथी प्रतिदिन उस पहाड़ी पर स्थित एक बामी की पूजा करता था। राजा करकण्डु ने उसकी पूजा को देखकर अनुमान लगाया कि निश्चित इस बामी के नीचे कोई देवमूर्ति है, अन्यथा यह पशु पूजा नहीं करता, अतः उस बामी को खुदवाया। खुदाई में नीचे भगवान् पार्श्वनाथ की एक मूर्ति निकली जिसे वह बड़ी भक्ति और श्रद्धा के साथ गुफा में ले आया। इसके पश्चात् वह राजा इधर उधर भ्रमण करता हुआ दक्षिण पहुँचा तथा चेर, चोल और पाण्ड्य नरेशों की सम्मिलित सेनाओं का सामना किया तथा अपने युद्ध कौशल से उन्हें हराकर अपना प्रण पूरा किया। जब करकण्डु राजा उन पराजित राजाओं के सिर के ऊपर पैर रखने लगा तो उनके मुकुटों में स्थित जिन प्रतिमाओं के दर्शन उसे हुए, जिससे उसे भारी पश्चाताप[1] हुआ। उन्हें उसने फिर राज्य देना चाहा, पर वे स्वाभिमानी द्रविडाधिपति यह कह तपस्या को चले गये कि अब हमारे पुत्र पौत्रादि ही राज्य को चलायेंगे।

जम्बू स्वामी चरित में भी अवगत होता है कि विद्युच्चर नामका चोर जम्बूकुमार के प्रभाव के कारण चोरी से विरक्त हो गया था और वह भ्रमण करता हुआ समुद्र के निकट स्थित मलयाचल पर्वत पर पहुंचा। यहाँ से वह सिंहलद्वीप गया, लौटते समय वह केरल आया था। द्रविड़ देश को उसने जैन मन्दिरों और जैन श्रावकों से पूर्ण देखा। अनन्तर वह कर्णाटक, काम्बोज, काचीपुर, सह्यपर्वत, आभीर आदि देशों में भ्रमण करता हुआ

१ हा हा मइ मूढइ किं कियउ जिण गिंतु विणासेवि आइयउ।

किष्किन्धापुर में आया। इस भ्रमण वृत्तान्त से स्पष्ट है कि भद्रबाहु स्वामी के जाने के पहले दक्षिण प्रान्त में जैनधर्म फल-फूल रहा था। यदि वहाँ जैनधर्म उन्नत अवस्था में नहीं होता तो यह विशाल मुनिसंघ, जिसकी कि आजीविका जैन धर्मानुयायी श्रावकों पर ही आश्रित थी, विपत्ति के समय कभी भी दक्षिण को नहीं जाता। बुद्धि इस बात को कभी स्वीकार नहीं करती है कि भद्रबाहु स्वामी इतनी अधिक मुनियों की संख्या को बिना श्रावकों के कैसे ले जाने का साहस कर सकते थे? अतः श्रावक वहाँ विपुल परिमाण में अवश्य पहले से वर्तमान थे। इसीलिये भद्रबाहु स्वामी ने अपने विशाल संघ को दक्षिण भारत की ओर ले जाने का साहस किया।

भद्रबाहु स्वामी की इस यात्रा ने दक्षिणभारत में जैनधर्म के फलने और फूलने का सुअवसर प्रदान किया। बौद्धों की जातक कथाओं और मेगास्थनीज के भ्रमणवृत्तान्तों से अवगत होता है कि उत्तर में १२ वर्ष का भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा था और चन्द्रगुप्त मौर्य भी अपने पुत्र सिंहसेन को राजगद्दी देकर भद्रबाहु के साथ दक्षिण में आत्मशोधन के लिये चला गया था। चन्द्रगिरि पर्वतपर चन्द्रगुप्त की द्वादश वर्षीय तपस्या का वर्णन मिलता है। भद्रबाहु स्वामीने अपनी आसन्न मृत्यु ज्ञातकर मार्ग में ही कहीं समाधिमरण धारण किया था। इनका मृत्युकाल दिगम्बर परम्परानुसार वीर नि० सं० १६२ और श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा वी० नि० स० १७० माना जाता है।

दक्षिण में पहुँचकर इस संघ ने वहाँ जैनधर्म का खूब प्रसार किया तथा जैन साहित्य का निर्माण भी विपुल परिमाण में हुआ। इस धर्म के प्रचार और प्रसार की दृष्टि से दक्षिण भारत को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—तामिल प्रान्त और कर्णाटक। तामिल प्रदेश में चोल और पाण्ड्य नरेशों में जैनधर्म पहले से ही वर्तमान था, पर अब उनकी श्रद्धा और भी दृढ हो गयी तथा इन राजाओं ने इस धर्म के प्रसार में बड़ा सहयोग प्रदान किया। सम्राट् एल खारवेल के एक शिलालेख से पता चलता है कि उसके राज्याभिषेक के अवसर पर पाण्ड्य राजाओं ने कई जहाज उपहार भेजे थे। ये सभी राजा जैन थे इसीलिये जैन सम्राट् के अभिषेक के अवसर पर उन्होंने उपहार भेजे थे। इनकी राजधानी मदुरा जैनों का प्रमुख प्रचार केन्द्र बन गयी थी। तामिल ग्रन्थ 'नालदियर' के सम्बन्ध में किंवदन्ती है कि भद्रबाहु स्वामी के विशाल संघ के आठ सहस्र जैन साधु पाण्ड्य देश गये थे, जब वे वहाँ से वापस आने लगे तो पाण्ड्य नरेशों ने उन्हे आने से रोका। एक दिन-रात को चुप-चाप इन साधुओं ने राजधानी छोड दी; पर चलते समय प्रत्येक साधु ने एक-एक ताडपत्र पर एक-एक पद्य लिखकर रख दिया, इन्हीं पद्यों का संग्रह 'नालदियर' कहलाता है।

तामिल साहित्य का वेद कुरलकाव्य माना जाता है, इसके रचयिता आचार्य कुन्दकुन्द है। इन्होने असाम्प्रदायिक दृष्टिकोण से इसे लिखा है, जिससे यह काव्य मानवमात्र के लिये अपने विकास में सहायक है। जैनों के तिरुक्कुरल, नालदियर, पळिमोळी, नानुळी चिन्ता-

मणि, सीलप्पडिकारम्, वलयापदि आदि तामिल भाषा के काव्य विशेष सुन्दर माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त पेरुंकदै यशोधरकाव्य, चूड़ामणि, एलादी, कलिंगत्तुपरणी, नन्नूल, नेमिनाद, यप्पारु, श्रीपुराण, मरुमन्दर पुराण आदि तामिल ग्रन्थ भी कम प्रशंसा के योग्य नहीं हैं। यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि व्याकरण, छन्द, अलंकार, दर्शन और जैनागम प्रभृति विभिन्न विषयों के उत्तमोत्तम ग्रन्थ लिखकर तामिल वाङ्मय को समृद्धशाली और उत्कृष्ट स्थिति में लाने का श्रेय जैनाचार्यों को ही है। जैनाचार्य पूज्यपाद के शिष्य वज्रनन्दि ने पाण्ड्यों की राजधानी मदुरा में एक विशाल जैन संघ की स्थापना की थी, इस संघ द्वारा तामिल प्रान्त में जैनधर्म का खूब प्रचार हुआ। आचार्य कुन्दकुन्द ने पोन्नूरग्राम के निकट नीलगिरि नामक पर्वत पर तपस्या की थी, इनके आश्रम में आकर पल्लव वंशी शिवस्कन्दवर्म महाराज ने प्राभृत त्रय का अध्ययन किया था।

तामिल देश के इतिहास में जैनधर्म ई० तीसरी और चौथी शताब्दी में लुप्त प्राय दिखाई पड़ता है। पाँचवीं और छठीं सदी में जैनधर्म का बड़ा भारी जोर रहा है, फिर भी जैनों की तात्कालीन परिस्थिति का चित्रण वैष्णव और शैवपुराणों में मिल जाता है। सातवीं शताब्दी से लेकर ११ वीं शताब्दी तक शैवधर्म के समानान्तर जैनधर्म भी चलता रहा। गंगवाडि के गंगवंशीय राजाओं ने इस धर्म को विशेष प्रोत्साहन दिया, जिससे विधर्मियों के द्वारा नाना प्रकार के अत्याचारों के होने पर इसकी क्षीण रेखा ११ वीं सदी के अन्त तक दिखलाई पड़ती रही।

अनेक विदेशी विद्वानों ने अपने अपने इतिहास में तामिल प्रान्त का जैनधर्म की उन्नति का वर्णन किया है। विशप काल्डवेल का कहना है कि जैनों की उन्नति का युग ही तामिल साहित्य की उन्नति का महायुग है। इन्होंने तामिल कनड़ी और दूसरी लोकभाषाओं का प्रचार किया, जिससे वे जनता के सम्पर्क में अधिक आये। सरवाल्टर इलियट के मतानुसार दक्षिण की कला और कारीगरी पर जैनों का अमिट प्रभाव है। तामिल प्रदेश में जैनों के द्वारा ही अहिंसा का विशेष प्रचार हुआ जिससे जनता ने मद्य, मांस और मधु भक्षण का भी त्याग कर दिया था। ब्राह्मणों पर जैनों की अहिंसा का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि यज्ञों में भी हिंसा बन्द हो गई और हिंसा रहित यज्ञ किये जाने लगे। कुछ विद्वानों का अभिमत है कि विग्रहाराधना, पुराणपुरुषों की पूजा, गणपति पूजा, देवस्थान निर्माण प्रथा और जीर्णोद्धार क्रिया प्रभृति बातें शैव और वैष्णव मतों में जैन सम्प्रदाय की देखादेखी प्रचलित हुई। अतएव तामिल देश में ई० पू० ३०० से लेकर ई० ११०० तक जैनधर्म का खूब प्रचार हुआ, किन्तु इसके अनन्तर शैव और वैष्णवों के धर्मद्वेष के कारण प्रभावहीन हो गया।

कर्णाटक—इस प्रान्त में जैन धर्म का विस्तार बहुत हुआ, यहां की राजनीति, धर्म, संस्कृति, साहित्य, कला, विज्ञान, व्यापार प्रभृति सभी बातें जैनधर्म से अनुप्राणित थीं।

अनेक जैन राजाओं के साथ-साथ ऐसे निष्णात विद्वान्, कवि, कलाकार और प्रभावक गुरु हुए, जिनका प्रभाव दक्षिण प्रान्त की कर्णाटक भूमि के कण-कण पर विद्यमान था। सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक सभी मामलों में जैनाचार्यों का पूरा-पूरा हाथ था, उनकी सम्मति और निर्णय के उपरान्त ही किसी भी सांस्कृतिक कार्य का प्रारम्भ होता था। भद्रबाहु स्वामी के सघ के पहुँचने के पहले भी यहाँ जैन गुरुओं को सम्मान्य स्थान प्राप्त था। मौर्य साम्राज्य के बाद इस प्रान्त में आन्ध्रवंश का शासन स्थापित हुआ, इस वंश के सभी राजा जैनधर्म के उन्नायक रहे है। इनके शासन काल में सर्वत्र जैन-धर्म का अभ्युदय था। इसके पश्चात् उत्तर-पूर्व मे पल्लव और उत्तर-पश्चिम में कदम्ब वंश के राज्य इस प्रान्त में स्थापित हुए। कदम्ब वंश के अनेक शिलालेख उपलब्ध है, जिनमें इस वंश के राजाओ द्वारा जैनों को दान देने का उल्लेख है। इस वश का धर्म जैन था।

कदम्ब वंश के समान चालुक्य वश के राजा भी जैनधर्मानुयायी थे। पल्लव वंश के राजाओं के जैन होने के सम्बन्ध में ऐतिहासिक उल्लेख नहीं मिलता है पर भगवान् नेमिनाथ का विहार पल्लव देश में होने से तथा उस समय के समस्त दक्षिण के वातावरण को को जैनधर्म से अनुप्राणित होने के कारण प्राचीन पल्लव वंश भी जैनधर्म का अनुयायी रहा होगा। चालुक्य नरेशों ने अनेक नवीन जैन मन्दिर बनवाये तथा उन्होने अनेक मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया था। कन्नड के प्रसिद्ध जैन कवि पम्प का भी सम्मान इस वंश के राजाओं द्वारा हुआ था।

गंगवंश—कर्णाटक प्रान्त में जैनधर्म के प्रसारकों मे इस वश के राजाओ का प्रमुख हाथ है। इतिहास बतलाता है कि दक्षिण-भारतीय गगराजाओं के पूर्वज गंगानढ-प्रदेशवासी इक्ष्वाकुवशी क्षत्रिय थे। इनकी सन्तान परम्परा में दडिग और माधव नामके दो शूरवीर व्यक्ति उत्पन्न हुए, जिन्होंने पेरूर नामक स्थान पर जाकर आचार्य सिहनन्दी का शिष्यत्व ग्रहण किया। उस समय पेरूर जैन संस्कृति का प्रमुख केन्द्र था, यहाँ पर जैन मन्दिर और जैन संघ विद्यमान था। आचार्य ने इन दोंनो को राजनीति और धर्म-शास्त्र की शिक्षा देकर पूर्ण निष्णात बना दिया तथा पद्मावतीदेवी से उनके लिये वरदान प्राप्त किया। आचार्य की शिक्षा और वरदान के प्रभाव से इन दोनो वीरों ने अपना राज्य स्थापित कर लिया तथा कुवलाल में राजधानी स्थापित कर गंगवाडी प्रदेश पर शासन किया। गंगराजाओं का राजचिन्ह मदगजेन्द्र लाञ्छन और उनकी ध्वजा पिच्छ चिन्ह से अंकित थी। उस समय जैनधर्म राष्ट्रधर्म था, और इसके गुरु केवल धार्मिक ही गुरु नहीं थे, बल्कि राजनैतिक गुरु भी थे।

दडिग ने जैनधर्म के प्रसार के लिये मंडलि नामक स्थान पर एक लकड़ी का भव्य जिनालय निर्माण कराया, जो शिल्पकला का एक सुन्दर नमूना था। क्योंकि उस

संस्कृत, प्राकृत और कन्नड के विद्वान् थे। गुणवर्म ने गंगराजा एरेयप्प के समय में 'हरिवंश' की रचना की थी। इन्हींके समकालीन कवि पम्प बहुत प्रसिद्ध कवि हुए हैं, इन्हें कविता गुणार्णव, पूर्णकवि, सज्जनोत्तम आदि विशेषणों से सम्बोधित किया गया है। इस महाकवि ने लोककल्याण की भावना से प्रेरित होकर आदिपुराण, विक्रमार्जुन विजय, लघुपुराण, पार्श्वनाथपुराण और परमार्ग नामक ग्रन्थों की रचना की है।

पम्प के समकालीन महाकवि पोन्न और रन्न भी हैं। इन दोनों कवियों ने भी कन्नड साहित्य की श्रीवृद्धि में अपूर्व योग दिया है। पोन्न का शान्तिनाथपुराण और रन्न का अजितनाथपुराण कन्नड साहित्य के रत्न हैं। इनके अतिरिक्त आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती ने उभय भाषाओं में ग्रन्थ रचना की है।

कला—गंगवाडि में स्थापत्य और शिल्पकला की विशेष उन्नति हुई थी। उस समय समस्त दक्षिण भारत में दर्शनीय भव्य मन्दिर, दिव्य मूर्तियाँ, सुन्दर स्तम्भ प्रभृति मूल्यवान् विशाल कृतियाँ स्थापित हुईं। गंगवाडि की जैन कला बिल्कुल भिन्न रही। गंगवंश के समस्त राजाओं ने जिनालयों का निर्माण कराया था। मन्दिरों की दीवाल और छतों पर कहीं-कहीं नक्काशी और पच्चीकारी का काम भी किया गया था। कोई-कोई मन्दिर दो मंजिल के भी थे और चारों ओर दरवाजे रहते थे। पाषाण के सिवा लकड़ी के जिनालय भी बनवाये गये थे। इस युग में मूर्त्ति निर्माण कला में भी जैन लोग बहुत आगे बढ़े-चढ़े थे, प्रसिद्ध बाहुबली स्वामी की मूर्त्ति इसका ज्वलन्त निदर्शन है। यह मूर्त्ति आज भी दुनिया की आश्चर्यजनक वस्तुओं में से एक है।

मन्दिरों के अतिरिक्त गंगराजाओं ने मण्डप और स्तम्भों का भी निर्माण कराया था। जैन मण्डप पाँच स्तम्भ के होते थे, चारों कोनों पर स्तम्भ लगाने के अतिरिक्त बीच में भी स्तम्भ लगाया जाता था और इस बीच वाले स्तम्भ की विशेषता यह थी कि वह ऊपर छत में इस प्रकार फिट किया जाता था जिससे तली में से रूमाल आर-पार हो सकता था। ये स्तम्भ मानस्तम्भ और ब्रह्मदेवस्तम्भ, इन दो भेदों में विभक्त थे।

ई० स० १००४ में जब गंगनरेशों की राजधानी तलकाड को चोल राजाओं ने जीत लिया तो फिर इस वंश का प्रताप क्षीण हो गया। इसके पश्चात् दक्षिण भारत में होय्सल वंश का राज्य प्रतिष्ठित हुआ। इस वंश की उन्नति भी जैन गुरुओं की कृपा से हुई थी। इस वंशका पूर्वज राजा सल था। कहा जाता है कि एक समय यह राजा अपनी कुलदेवी के मन्दिर में सुदत्त नामके जैन साधु से विद्या ग्रहण कर रहा था, इतने में वन से निकलकर एक बाघ सल को मारने के लिये झपटा। साधु ने एक डण्डा सल को देकर कहा—'पोय सल'—मारसल। सल ने उस डण्डे से बाघ को मार डाला और इस घटना को स्मरण रखने के लिये उसने अपना नाम पोयसल रखा, आगे जाकर यही होय्सल हो गया।

गंगवंश के समान इस वंश के राजा भी विट्टिगदेव तक जैन धर्मानुयायी रहे और जैनधर्म के प्रचार के लिये निरन्तर उद्योग करते रहे। जब रामानुजाचार्य के प्रभाव में आकर विट्टिगदेव वैष्णव हो गया, तो उसने अपना नाम विष्णुवर्द्धन रखा। इसकी पहली धर्मपत्नी शान्तलदेवी कट्टर जैनी थी। उसीके प्रभाव के कारण इस राजा ने जैनधर्म के अभ्युदय के लिये अनेक कार्य किये।

विष्णुवर्द्धन का मंत्री गंगराज तो जैनधर्म का स्तम्भ था। श्रवणबेलगोल के शिलालेखों में कई शिलालेख उनकी दानवीरता और धार्मिकता की दुहाई देते हैं। विष्णुवर्द्धन के उत्तराधिकारी नरसिंह प्रथम के मंत्री हुल्लास ने भी इस धर्म को दक्षिण में फैलाने का प्रयत्न किया। वस्तुतः मैसूर प्रान्त में इन दोनों मंत्रियों ने तथा चामुण्डराय ने जैनधर्म के प्रसार के लिये अनेक कार्य किये हैं।

होयसल के पश्चात् बड़े राजवंशों में राष्ट्रकूट का नाम आता है, इस वंश के प्रतापी राजाओं के आश्रय से जैनधर्म का अच्छा अभ्युदय हुआ। मान्यखेट इनकी राजधानी थी, इस वंश में अनेक राजा जैनधर्मानुयायी हुए हैं और सभी ने अपने अपने शासन काल में जैनधर्म की प्रभावना की है। अमोघवर्ष प्रथम का नाम दि० जैनधर्म की उन्नति करने वालों में बड़े गौरव के साथ लिया जाता है। यह राजा दि० जैनधर्म का बड़ा भारी श्रद्धालु था, इसने अन्तिम अवस्था में राज पाट छोड़कर जिनदीक्षा अपने गुरु जिनसेनाचार्य से ले ली थी। अमोघवर्ष ने जिनसेनाचार्य के शिष्य गुणभद्राचार्य को भी आश्रय दिया था। सम्राट् अमोघवर्ष ने अपने उत्तराधिकारी कृष्णराज द्वितीय गुणभद्राचार्य को गुरु के लिये नियुक्त किया था। श्रवणबेलगोल की पार्श्वनाथबसति शिलालेख से प्रकट है कि सम्राट् कृष्णराज की राजसभा में जैन गुरुओं का आगमन होता था तथा वह उनका यथोचित सत्कार करता था। इस वंश में उत्पन्न हुए चारों इन्द्र राजाओं ने जैनधर्म को धारण किया था तथा उसके प्रचार और प्रसार के लिये अनेक यत्न भी किये थे। यद्यपि अन्तिम राजा इन्द्र को राज्य की व्यवस्था करने में पूर्ण सफलता नहीं मिली थी, जिससे उसने जिनदीक्षा ग्रहण करली थी।

कलचुरि वंश—के नरेशों ने तामिल देश पर चढ़ाई की थी और वहाँ के राजाओं को परास्त करके अपना शासन स्थापित किया था। ये राजा जैनधर्म के अनुयायी थे, इनके पहुँचने से तामिल देश में जैनधर्म का प्रचार हुआ था। इस वंश के राजाओं का राष्ट्रकूट नरेशों से घनिष्ठ सम्बन्ध था, इनमें परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध भी हुए थे।

इन प्रधान राजवंशों के अतिरिक्त नोलम्ब, सान्तार, चांगल्व, कोंगल्व, पुन्नाट, सेनवार, सालुव, महाबलि, कदम्ब, रट्ट, शिलाहार, येलबुर्गा, पश्चिमी चालुक्य प्रभृति राजवंशों के अनेक राजा जैनधर्मानुयायी थे। इन वंशों के जो राजा जैनधर्म का पालन नहीं भी

करते थे, उन्होंने भी जैनधर्म की उन्नति में पूरा सहयोग प्रदान किया था। इस प्रकार कर्णाटक के सभी राजाओं ने जैनधर्म का विस्तार किया।

जैन कला और साहित्य—राष्ट्रकूट प्रभृति उपर्युक्त राजाओं के काल में जैन साहित्य और कला की दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि जैन कला और जैन साहित्य का विकास इस समय में बहुत हुआ है। राष्ट्रकूट और चालुक्य वंशों के राज्यकाल में जैनधर्म के प्राबल्य ने समस्त कर्णाटक को अहिंसामय बना दिया था; जिसके फलस्वरूप राष्ट्र खूब फलाफूला, देश में सुख समृद्धि की पुण्यधारा बही। फलतः मानव समाज के हृदय का आनन्द अपनी संकुचित सीमा को पार कर बाहर निकलने लगा, जिससे कला और साहित्य का प्रणायन अधिक हुआ। कला और साहित्य प्रेमी इन राजाओं के दरबार में साहित्यिक ज्ञान गोष्ठियाँ होती थी, इन गोष्ठियों में होने वाली चर्चाओं में राजा लोग स्वयं भाग लेते थे। राष्ट्रकूट वंश के कई राजा कवि और विद्वान् थे, इससे इनकी सभा में कवि और विद्वान् उचित सम्मान पाते थे। धवला और जयधवला टीकाओं का सृजन राष्ट्रकूट वंशीय राजाओं के जन साहित्य प्रेम का ज्वलन्त निदर्शन हैं। दर्शन, व्याकरण, काव्य, पुराण, ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद प्रभृति विभिन्न विषयो पर अनेक मौलिक रचनाएँ लिखी गईं।

इस काल के जैन कवियो ने दूतकाव्य और चम्पूकाव्य की परम्परा प्रकट कर काव्य-क्षेत्र में शृंगार रस के स्थान पर शान्तिरस का समावेश किया। जिनसेनाचार्य का पार्श्वाभ्युदय, आदिपुराण, वर्द्धमानपुराण, पार्श्वस्तुति, सोमदेवाचार्य का यशस्तिलक चम्पू, नीतिवाक्यामृत, गुणभद्राचार्य का आत्मानुशासन, उत्तरपुराण, जिनदत्तचरित्र; वादिराज का यशोधरचरित, पार्श्वनाथचरित, एकीभावस्तोत्र, काकुत्स्थचरित, न्यायविनिश्चय विवरण और वादमंजरी, महावीराचार्य का गणितसार संग्रह, शाकटानाचार्य का शाकटायन व्याकरण तथा उसकी टीका अमोघवृत्ति प्रभृति संस्कृत जैन रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। अपभ्रंश भाषा में कवि पुष्पदन्त का महापुराण, जसहर चरिउ, णायकुमार चरिउ; कवि धवल का हरिवंश पुराण, कवि स्वयंभू का हरिवंशपुराण, पउम चरिय, देवसेन का सावयधम्म दोहा और अभयदेव सूरि का जयतिहुयण स्तोत्र इत्यादि ग्रन्थ भी जैन साहित्य की अमूल्य निधि हैं। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त कन्नड भाषा में भी काव्य, पुराण, नाटक, वैद्यक, ज्योतिष, नीति प्रभृति विभिन्न विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये थे।

साहित्य की उन्नति के साथ जैनों ने कला के क्षेत्र में भी प्रगति की थी। राष्ट्रकूट, चालुक्य, कदम्ब, होयसल इत्यादि वंश के राजाओं ने अनेक जैन मन्दिर और जैन मूर्त्तियों का निर्माण कराया था। यद्यपि जैनो ने अपनी कला को शान्तरस से ओत-प्रोत रखा था तथा अपने धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार मूर्त्ति और मन्दिरों पर वीतरागता की ही भावनाएँ अंकित की थीं, फिर भी सर्वसाधारण के लिये आकर्षण कम नहीं था। अमरेश्वरम् में एक

मन्दिर की छत में सग्राम के दृश्य से अंकित एक पत्थर लगा है, जिसमें किला बना हुआ है, धनुषबाण चल रहे हैं। नगर और कोट का ऐसा सजीव अंकन किया गया है, जो दर्शकों के ध्यान को अपनी ओर आकृष्ट किये बिना नहीं रह सकता। श्रवणगुडी में एक जैनमठ के पास पड़े हुए पाषाणों में एक घुड़सवार अपने भाले से एक पियादे के तलवार के वार को रोकता हुआ दिखलाया गया है। कई चित्र तो शांति के मूर्तिमान प्रतीक हैं।

पेहीले और इलोरा के जैनमन्दिरों के मानस्तम्भ भी मिलते हैं। जैन मानस्तम्भों के विषय में फिगहौस सा० ने लिखा है —

"The whole capital and canopy of Jain pillors are a wonder of light, elegant highly decorated stone work and nothing can surpass the stately grace of these beautiful pillors, whose proportions and adaptations to surrounding scenery are always perfect, and whose richness of decoration never offends"

अर्थात् जैन स्तम्भों की आधार शिला तथा शिखिर बारीक, सुन्दर और समलङ्कृत शिल्पचातुर्य की आश्चर्यजनक वस्तु हैं। इन सुन्दर स्तम्भों की दिव्य प्रभा से कोई भी वस्तु समानता नहीं कर सकती। ये प्राकृतिक सौन्दर्य के अनुरूप ही बनाये गये हैं। नक्काशी और महत्ता इनकी सर्वप्रिय है।

कला परिपूर्ण मन्दिर और मूर्तियों की प्रशंसा भी अनेक विद्वानों ने मुक्त कण्ठ से की है। इस तरह जैनधर्म दक्षिण भारत में अपना प्रभुत्व १३ वीं सदी तक स्थापित किये रहा। शंकराचार्य, शैवानुयायी राजा एवं अन्य धार्मिक विद्वेषों के भयंकर झोंके लगने पर भी इस धर्म का दीपक आज भी दक्षिण में टिमटिमा रहा है।

विविध विषय

(१)

सुहोनिया या सुधीनपुर

प्राचीन समय मे सुहोनिया जैन संस्कृति का केन्द्र रहा है। यह ग्वालियर से २५ मील उत्तर की ओर तथा कुतवर से १४ मील उत्तर-पूर्व अहसिन नदी के उत्तरी तट पर स्थित है। कहा जाता है कि पहले यह नगर १२ कोस के विस्तार मे था और इसके चार फाटक थे। यहां से एक कोस की दूरी पर विलौनी नामक गाँव में दो खम्भे अभी तक खड़े मिलते हैं, पश्चिम मे एक कोस दूर पर वौरीपुरा नामक गॉव मे एक दरवाजे का अंश अभी तक वर्तमान है। दो कोस पूर्व पुरवास में और दो कोस दक्षिण बाढ़ा मे अभी तक दरवाजों के ध्वंसावशेष स्थित है। इन सीमा विन्दुओं की दूरी नापने पर सुहोनिया का प्राचीन विस्तार विल्कुल ठीक मालूम होता है।

ग्वालियर के संस्थापक सूरजसेन के पूर्वजो द्वारा आज से दो हजार वर्ष पूर्व इस नगर का निर्माण किया गया था। कहते हैं कि राजा सूरजसेन को कुष्ठ रोग हो गया था, उसने इससे मुक्ति पाने के लिये अनेक उपाय किये, पर उस भयानक रोग का शमन नही हुआ। अचानक राजा ने एक दिन अम्बिका देवी के पार्श्व में स्थित तालाव मे स्नान किया, जिससे वह उस रोग से छुटकारा पा गया। इस स्मृति को सदा कायम रखने के लिये उसने अपना नाम शोधनपाल या सुद्धनपाल रखा तथा इस नगर का नाम सुद्धनपुर या सुधानियापुर रखा, आगे चलकर यही नगर सुहानिया, सिहोनिया या सुधानिया नामों से पुकारा जाने लगा। कोकनपुर मठ का वड़ा मन्दिर जो ग्वालियर के किले से दिखलाई देता है, उसकी रानी कोकनवती के द्वारा वनवाया गया था। इस मन्दिर का निर्माण काल ई० २७५ है, इस रानी ने एक विशाल जैन मन्दिर भी सुहानिया के पास वनवाया था। इसका धर्म के ऊपर अटल विश्वास था। सुहोनिया मे उस समय सभी सम्प्रदाय-वालों के वड़े-वड़े मन्दिर थे। जैन यक्षिणी देवियों के मन्दिरों का पृथक् निर्वाण भी किया गया था। १० वीं शताब्दी तक ब्राह्मण मत के साथ जैनधर्म का प्रसार इस नगर मे होता रहा। ४ थीं और ५ वीं सदी मे सिहोनियाँ के आस-पास ११ जैन मन्दिर थे, जिनका निर्माण जैसवाल जैनों ने किया था।

सन् ११६५-११७५ के वीच मे कन्नौज के राजा अजयचन्द ने इस नगर पर आक्रमण किया। इस समय इस नगर का शासन एक राव ठाकुर के अधीन था जो कि ग्वालियर के अन्तर्गत था। इस युद्ध मे राव ठाकुर का पराजय हुआ, और कन्नौज

का शासन स्थापित हो गया। लेकिन सुहानिया के दुर्भाग्य का उदय हो चुका था, उसकी उन्नति और श्री सदा के लिये रूठ गयी थी, फलतः कन्नौज के शासक भी वहाँ अधिक दिन तक नहीं रह सके तथा यह सुन्दर नगर उजड़ने लगा। इसका शासन पुनः ग्वालियर के अन्तर्गत पहुँचा, पर इसके अधिकांश मन्दिर, मठ धराशाही होने लगे। मुसलमान बादशाहों की सेना का प्रवेश भी इधर हुआ, जिसने सुन्दर मूर्तियों को भग्न किया और मन्दिरों को धूलिसात् कर दिया।

अभी हाल में इस नगर में भूगर्भ से श्री शान्तिनाथ भगवान् की एक विशालकाय १६ फुट ऊँची प्रतिमा निकली है तथा और भी अनेक जैन मूर्तियाँ वहाँ पर विद्यमान हैं। सुनने में आया था कि ब्र० गुमानीलाल को शासन देवता ने स्वप्न में मूर्तियों की बात कही थी, उन ब्रह्मचारी जी के कहने पर ही वहाँ के समाज ने उस बीहड़ जंगल में खुदाई की जिसमें अनेक प्रतिमाएँ निकलीं। आज इस क्षेत्र का प्रबन्ध मुरैना के बा० महीपाल जी जैन के मन्त्रित्व में हो रहा है, प्रतिवर्ष अब यहाँ पर वार्षिक मेला भी लगता है। खुदाई करने पर अभी और भी मूर्तियाँ तथा जैन संस्कृति की अन्य वस्तुएँ निकल सकती हैं। पुरातत्त्वज्ञों ने जंगल में पड़ी हुई जैन मूर्त्ति को देखकर ग्वालियर की रिपोर्ट में लिखा है कि यह मूर्त्ति आज से कम से कम एक हजार वर्ष पहले की अवश्य है।

(२)

कवि वृन्दावन कृत सतसई—सप्तशती

कविवर वृन्दावनजी प्रतिभाशाली कवि थे, इनका जन्म सं० १८४८ में शाहाबाद जिले के बारा नामक गाँव में गोयल गोत्रीय अग्रवाल कुल में हुआ था। इनके पिता का नाम धर्मचन्द और माता का नाम सिताबी था। इन्होंने चौबीसी पाठ, वृन्दावन विलास,, प्रवचनसार टीका, तीस चौबीसी-पूजा-पाठ आदि ग्रन्थ लिखे हैं। 'भवन' में उक्त कविवर की एक सतसई है, इसमें ७०० दोहे हैं। इस ग्रन्थ के अन्त में प्रशस्ति दी गई है :—

इति वृन्दावनजी कृत सतसइया चैत्र कृष्ण १५ संवत १९५३ गुरुवार आठ बजे रात्रि को आरामपुर में बाबू अजितदास के पुत्र हरीदास ने लिखकर पूर्ण किया सो जैवंत होहु शुभ शुभ शुभ ॥

अतः कविवर के पौत्र द्वारा लिखित इसको प्रामाणिक मानना चाहिये। किन्तु इसके भीतर ऐसे भी अनेक दोहे हैं, जो कविवर के पूर्वकालीन गिरधर बिहारी, रहीम,

तुलसी आदि के नाम से प्रसिद्ध हैं। पता नहीं सतसई के भीतर ये दोहे कैसे आगये ? ग्रन्थ का प्रारम्भिक अंश इस प्रकार है :—

श्रीगुरनाथ प्रसाद तें, होय मनोरथ सिद्ध ।
वर्षा तें ज्यो तरुवेलिदल, फूलफलन की वृद्धि ॥
किये वृन्द प्रस्ताव को, दोहा सुगम बनाय ।
उक्त अर्थ दिष्टान्त करि, दिढ़ करि दिये बताय ॥१॥
भाव सरल समझत सबै, भले लगै हिय आय ।
जैसे अवसर की कही, वानी सुनत सुहाय ॥२॥
नीकीहु फीकी लगै, बिन अवसर की बात ।
जैसे वरनत युद्ध में, रस सिंगार न सुहात ॥

इनकी यह सतसई विहारी के समान शृंगारिक-कृति नहीं है, प्रत्युत नीति और वैराग्य से ओत-प्रोत है। इनकी यह रचना जनहिताय ही हुई है, मानव के चरित्र को विकसित करना ही इनका ध्येय रहा है। लौकिक ज्ञान समाज को प्रदान कर उसे व्यवहार कुशल और संयमित बनाने का प्रयत्न कवि का है। वास्तव में साहित्य क्षेत्र में नीति काव्यों का स्थान भी उतना ही ऊँचा और श्रेष्ठ है जितना शृंगारिक रचनाओं का। इस रचना से कवि ने सहृदय मानव समाज से भावों की सभी वृत्तियाँ जागृत कर करुणा, दया, क्षमा, सहानुभूति आदि कोमल वृत्तियों के विकास पर जोर दिया है। यह रचना अत्यन्त सरल, सरस और सद्य प्रभावोत्पादिनी है।

(२)

दूबकुण्ड का ध्वंस जैन मन्दिर

ग्वालियर से दक्षिण-पश्चिम में दूबकुण्ड नामक पुराना जैन मन्दिर है। यह कुनू और चम्बल के बीच में ग्वालियर से ७६ मील दक्षिण-पश्चिम और शिवपुरी से ४४ मील उत्तर-पश्चिम में एक उपत्यका के ऊपर स्थित है। ग्वालियर की सड़क से ६८ मील दूर है। श्री बा० ज्वालाप्रसाद, जो सन् १८६६ से कप्तान मेलविल के साथ उस स्थान का अवलोकन करने गये थे, उन्होंने वहाँ उत्कीर्ण एक लेख को पढ़कर मन्दिर का निर्माण स० ७४१ बताया, परन्तु कुछ पुरातत्त्वज्ञों ने उसका समय सं० १०८८ या ११४५ कहा है। क्योंकि अन्य उत्कीर्ण शिलालेखों से इस मत की पुष्टि हो जाती है। यह समय श्री विक्रमसिंह महाराजाधिराज के काल में पड़ता है। ग्वालियर के राजाओं की नामावली में इस नाम के राजा का उल्लेख नहीं है, किन्तु ग्वालियर के

युवराज 'कच्छप वश घट तिलक' कहे जाते हैं, अत इस कच्छवाह वशी राजा का सम्बन्ध ग्वालियर से रहा होगा।

दूबकुण्ड का मन्दिर ७५० फीट लम्बा और ४०० फीट चौड़ा अण्डाकार घर म है। पूर्व की ओर प्रवेश द्वार है, द्वार के सामने पत्थर म कटा हुआ ५० वर्गफीट का एक तालाब है। यह मन्दिर बिल्कुल गिर गया है। इसके भीतर शिखरावती के मन्दिर का ध्वसावशेष भी है। बेर और बबूल क पेड़ों का जगल इतना घना है कि समस्त मन्दिर मे घूमना कठिन है। यहाँ की सभी मूर्तियाँ जैन हैं। एक मूर्ति पर चन्द्रप्रभु का नाम भी लिखा हुआ है। किम्वदन्ती है कि यहाँ प्राचीन काल में जैनियों का मेला भी लगता था। प्राचीन समय में पश्चिम के किसी राजा ने आक्रमण कर यहाँ के मन्दिर को तोड़ दिया था, तथा अनेक मूर्त्तियों को तालाब म डुबा दिया और सोन चाँदी की मूर्तियों को वह ले गया था। मूर्त्तियों को डुबाने के कारण ही इस मन्दिर का नाम डूबकुण्ड अर्थात् दूबकुण्ड पड़ गया है। प्रसिद्धि है कि जोगशाह और भीमा शाह नामक जैन श्रावकों ने इस मन्दिर को बनवाया था। किन्तु शिलालेख म बताया गया है कि मुनि विनयकीर्त्ति क उपदेश से जैसवाल वंशी दाहड, कूकेक, सूपट, देवधर और महाचन्द्र आदि चतुर श्रावकों ने मन्दिर का निर्माण कराया था जिसके पूजन, संरक्षण एव जीर्णोद्धार आदि के लिये कच्छवाह राजा विक्रमसिंह ने भूमि दान भी दी थी। मराठा सरदार अमर सिंह ने धर्मान्ध होकर जैन संस्कृति के स्तम्भ इस मन्दिर को नेस्त नाबूद किया था। इस मन्दिर के सम्बन्ध म कहा गया है "The Jain temple of Dubkund is square enclosure of 81 feet each way on each side there are ten rooms The four corner rooms have doors opening outwards, but all the rest open inwards into a corridor supported on square pillars The entrance is on the east side which has, therefore only seven Chapels, there being exactly eight chapels on each of the other three sides Each chapel is 5 feet 8 inches square"

अर्थात्—जैन मन्दिर ८१ फीट के घेर में है, इसमें चारों ओर दस कमरे हैं, चारों कोनों के दरवाजे बाहर की ओर खुलते हैं, बाकी सभी दरवाजे भीतर बरामदे की ओर खुलते हैं, जो कि चौकोर स्तम्भों के ऊपर स्थित है। पूर्व की तरफ सात वेदियाँ हैं और शेष सभी ओर आठ-आठ वेदियाँ हैं। प्रत्येक वेदी ५ फीट ८ इंच के घेरे का है।

इस मन्दिर म ३१ कमरे जो बाहर की ओर खुलते हैं, उनमें ३१ वेदियाँ और चार कमरे जो भीतर की ओर खुलते हैं, उनमें चार वेदियाँ हैं, इस प्रकार इस मन्दिर में कुल ३५ वेदियाँ हैं। वेदियों में चित्रकारी की गई है, दरवाजों पर भी सुन्दर कारीगरी

है। प्रत्येक दरवाजे के दोनों ओर चार-चार वडी मूर्त्तियाॅ है तथा दरवाजे के ऊपर तीन-तीन वडी पद्मासन मूर्त्तियाॅ है। खम्भे चोकोर हैं, ये ऊपर और नीचे चौड़े हैं, इनके ऊपर चार-चार ब्रेकिटें है, जो छत को संभाले हुए है। इन खम्भों की ऊॅचाई ७ फीट ५ इंच है। दक्षिण-पूर्व के कोने के कमरे की वेदी पर तीन ऊॅची खड़ी मूर्त्तियाॅ विराजमान हैं। इनमें वीच की मूर्त्ति १२ फीट, ६ इंच ऊॅची और ३ फीट ८ इंच चौडी है। यह जमीन मे नीचे धसी हुई है। शेष दोनों वगल-वाली मूर्त्तियाॅ ६ फीट ९ इंच ऊॅची और २ फीट ४ इंच चौड़ी हैं।

मन्दिर भूमिसात् है, इसकी छत गिर गई है, वरामदे की छत के कुछ किनारे के हिस्से लटक रहे हैं। वाहर मे तीन यक्षिणियों की मूर्त्तियाॅ भग्न मूर्त्तियों के साथ पड़ी हुई है, ये भग्न सभी मूर्त्तियाॅ दिगम्बर सम्प्रदाय की हैं। एक स्तम्भ पर तीन पंक्तियों का लेख उत्कीर्ण है—

प्रथम पंक्ति—सं० ११५२ वैशाख सुदि पञ्चम्यां
द्वितीय पंक्ति—श्रीकाष्ठासंघ महाचार्यवर्य श्रीदेव
तृतीय पंक्ति—सेनपादुका युगलम्

नीचे के हिस्से मे एक भग्न मूर्त्ति है, जिसपर श्रीदेव लिखा है। एक खड्गासन मूर्त्ति के नीचे निम्न लेख उत्कीर्ण है, इस लेख में संवत और तिथि का जिक्र नहीं है—

लघु श्रेष्ठिनो कार्त्ति श्रीमान वसु प्रतिमा
श्रेठिनी लक्ष्मीः

अर्थात इस लेख मे वताये गये 'वसु' वासुपूज्य भगवान् हैं, जो कि १२ वे तीर्थंकर हैं। दक्षिण की तरफ १६ इ च के तोरण पर ५९ पंक्तियों का लम्वा लेख उत्कीर्ण है। यह संवत् ११४५ का है। इसका प्रारम्भ "ॐ नमो वीतरागाय" से हुआ है। श्रीशान्तिनाथ जिन और श्रीमज्जिनाधिपति आदि नाम भी आये हैं तथा इसमे लाडवागड गण के देवसेन, कुलभूषण, दुर्लभसेन, अंवरसेन और शान्तिषेण इन पाॅच आचार्यों के नाम भी पाये जाते हैं।

नेमिचन्द्र शास्त्री

साहित्य-समालोचना

षट्खण्डागम, धवला-टीका-समन्वित ८ वीं जिल्द—सम्पादक श्री० प्रो० हीरालाल जैन एम० ए०, डा० लिट्, नागपुर, सहसम्पादक श्री प० बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री, प्रकाशक श्रीमन्त सेठ शिताबराय लक्ष्मीचन्द्र, जैन-साहित्योद्धारक-फण्ड-कार्यालय, अमरावती (बरार), पृष्ठ संख्या २०+३९८+२८, मूल्य दस रुपये।

यह धवला टीका की आठवीं जिल्द भाषानुवाद समन्वित हमारे समक्ष है। इसमें बन्ध स्वामित्व विचय का प्ररूपण किया गया है। ग्रन्थ के आदि में इस प्रकरण के निरूपण की ओघ—गुणस्थान और आदेश—मार्गणा इन भेदों द्वारा प्रतिज्ञा की गई है। पश्चात् प्रथम प्रकरण में गुणस्थानों में प्रकृतिबन्ध व्युच्छेद, व्युच्छेद के भेद और उनका निरुत्पर्य, प्रकृतियों का उदय व्युच्छित्ति, प्रकृतियों के बन्धोदय का पूर्वापरता, सान्तर, निरन्तर और सान्तर निरन्तररूप से बंधनेवाली प्रकृतियों का निर्देश, ध्रुव बंधी प्रकृतियाँ, प्रकृतियों के बंध के स्वामी और तीर्थङ्कर प्रकृति के बंध के कारण आदि बातों का प्ररूपण किया गया है।

दूसरे प्रकरण से लेकर ग्रन्थान्त तक चौदह मार्गणाओं में विस्तार से बन्ध स्वामित्व का विचार किया गया है। कर्मबन्ध के विषय में इस जिल्द से पूरा पूरा ज्ञान हो सकता है। बात यह है कि बन्धन के चार भेद हैं—बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्ध विधान इस बन्ध विधान के भेद प्रकृतिबंध के मूल प्रकृतिबन्ध और उत्तर प्रकृतिबन्ध ऐसे दो भेद होते हैं। उत्तर प्रकृतिबन्ध के एकैकोत्तर प्रकृतिबन्ध और अव्वोगाढ उत्तरप्रकृति बन्ध ये दो भेद हैं।

प्रस्तुत बन्ध स्वामित्व विचय एकैकोत्तर प्रकृतिबन्ध के समुत्कीर्तनादि चौबीस अनुयोग द्वारों में बारहवाँ अनुयोग द्वार है। इस जिल्द में धवलाकार ने तेईस प्रश्नों द्वारा स्वोदय-परोदय, सान्तर निरन्तर, सप्रत्यय अप्रत्यय, सादि-अनादि, ध्रुव-अध्रुव आदि बन्धों की व्यवस्था का स्पष्टीकरण किया है।

इस जिल्द का सम्पादन अच्छा हुआ है। टीका का हिन्दी अर्थ शब्दशः दिया गया है, पर कहीं-कहीं भावानुवाद भी है। ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय प्रारम्भ में लिखा गया है। बन्धोदय-तालिका जिज्ञासुओं के लिए बड़े काम की है, इससे सहारे भीतर के विषय का सरलतापूर्वक हृदयंगम किया जा सकता है। कागज, मुद्रण तथा अन्यान्य कठिनाइयों के होने पर भी श्री प्रो० हीरालाल जी अपने सत्प्रयत्न में संलग्न हैं, इसके

लिये उन्हें जितना धन्यवाद दिया जाय थोड़ा है। समाज जिस ग्रन्थराज के दर्शनों के लिये लालायित था वही ग्रन्थराज सभी के समक्ष स्वाध्याय के लिये सुलभ्य है। छपाई-सफाई सुन्दर है, प्रूफ में एकाध जगह अशुद्धियाँ रह गई हैं, फिर भी ग्रन्थ की उपादेयता और सुन्दरता के समक्ष नगण्य हैं। स्वाध्याय प्रेमियों को अवश्य मंगाकर इसका स्वाध्याय कर पुण्यलाभ लेना चाहिये।

मोक्षमार्ग प्रकाश का आधुनिक हिन्दी रूपान्तर—रचयिताः स्व० पं० टोडरमल, सम्पादक और रूपान्तरकारः प० लालबहादुर शास्त्री, प्रकाशकः मंत्री साहित्य विभाग भा० दि० जैन संघ चौरासी मथुरा, पृष्ठ संख्याः ८+६०+३६८, मूल्यः आठ रुपये।

यह भा० दि० जैन संघ ग्रन्थमाला का द्वितीय पुष्प है। समाज में शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति होगा, जो मोक्षमार्ग प्रकाश के नाम से अपरिचित हो। आजतक स्वाध्याय प्रेमियों के सामने इस ग्रन्थ की प्राचीन मारवाडी भाषा स्वाध्याय मे बाधक थी, पर अब यह कठिनाई दि० जैन संघ मथुरा के प्रयास से दूर हो गई, जिससे साधारण शिक्षित भी जैनधर्म के गहन विषयों का अध्ययन कर सकेंगे। ग्रन्थ के आरम्भ में ही श्री टोडरमल जी लिखित मोक्षमार्ग प्रकाश की प्रति के पत्र का चित्र मुद्रित है, जिससे उनकी हस्तलिपि का परिचय हो जाता है। अनन्तर सम्पादक जी की विस्तृत प्रस्तावना है, इसमें आपने ग्रन्थ का विषय, रचनाशैली, भाषा, भावों का प्रकटीकरण, पं० टोडरमलजी की कवित्व शक्ति, प्रतिभा उनका गम्भीर अध्ययन तथा उनके जीवन की अन्यान्य घटनाओं पर सुन्दर प्रकाश डाला है। ग्रन्थ की विषयगत विशेषताओं का निरूपण बड़े अच्छे ढंग से किया है।

श्री प० लालबहादुरजी ने हिन्दी रूपान्तर इतना सुन्दर और समुचित किया है जिससे ग्रन्थ की मौलिकता ज्यो की त्यों अक्षुण्ण बनी हुई है और पाठक को उतना ही आनन्द आता है जितना मूल पुस्तक के अध्ययन मे। ग्रन्थ के अस्पष्ट विषय को स्पष्ट करने के लिये पाद टिप्पण भी दिये है, जिससे ग्रन्थ का आशय भली भाँति हृदयंगम हो जाता है।

ग्रन्थ के अन्त मे दो महत्वपूर्ण परिशिष्ट दिये गये है, जिनमे ग्रन्थ के सूत्र वाक्यो को विशदार्थ देकर खुलासा किया गया है। इस प्रकार ग्रन्थ के हृद्य को इतना स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रत्येक स्वाध्याय प्रेमी बुद्धि पर बिना जोर दिये सरलता से जैनागम के उच्चतम विषयों को अवगत कर सकेगा। वास्तव में इसके सम्पादन मे अत्यन्त परिश्रम किया गया है, जिससे यह ग्रन्थ सर्वाङ्ग सुन्दर बन गया है। ऐसे सर्वाङ्गीण

सुन्दर सम्पादन के लिये सम्पादक अभिनन्दनीय है। पाठकों को इसे मंगाकर स्वाध्याय करना चाहिये। छपाई सफाई, गेटप आदि समस्त चीजें आकर्षक हैं।

कन्नड प्रान्तीय ताडपत्रीय-ग्रन्थसूची—सम्पादक विद्याभूषण पं० के० भुजबली शास्त्री मूडबिद्री, प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ काशी, पृष्ठ संख्या ३०+३२४, मूल्य तेरह रुपये।

श्री पं० के० भुजबली शास्त्री जैन समाज के माने हुए पुरातत्त्वज्ञ हैं, आपके द्वारा सम्पादित यह सूचि बहुत सुन्दर निकली है। प्रस्तुत सूची-पत्र में जैनमठ मूडबिद्री, श्री वीरवाणी विलास जैन सिद्धान्त भवन मूडबिद्री, जैनमठ कारकल, आदिनाथ ग्रन्थ भाण्डार अलियूर एवं सिद्धान्त बसदि मूडबिद्री आदि ग्रन्थागारों के ताडपत्रीय ग्रन्थों की सविवरण नामावली है। सिद्धान्त, अध्यात्म, धर्म, योगशास्त्र, प्रतिष्ठा, व्रतविधान आराधना, न्याय तथा दर्शन, व्याकरण, कोश, काव्य, नाटक, अलंकार छन्दःशास्त्र, नीति तथा सुभाषित, पुराण, चरित्र, कथा, इतिहास, आयुर्वेद, ज्योतिष, गणित-शास्त्र, मन्त्रशास्त्र लोक विज्ञान, शिल्पशास्त्र, लक्षण, समाचार, पाकशास्त्र, क्रियाकाण्ड, स्तोत्र, भजन तथा गीत इन प्रकारोंके विषयिक ग्रन्थों की अकारादि क्रम से सूची दी गई है। इसमें ३५३८ ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय सहित अनुक्रमणिका है तथा लगभग १७५ ऐसे अप्रकाशित ग्रन्थों की नामावली दी है, जो जैन साहित्य की अमूल्य निधि हैं। सम्पादक की प्रस्तावना महत्वपूर्ण और मौलिक है, इससे जैन साहित्य का सामान्य आभास मिल जाता है।

भारतीय ज्ञानपीठ काशी ने दक्षिण भारतीय भाण्डारों की ग्रन्थ तालिका का, यह प्रथम भाग तैयार कराकर जैन साहित्य का महान् उपकार किया है। क्योंकि जैन साहित्य के प्रमुख निर्माताओं ने दक्षिण भारत को ही गौरवान्वित किया है। दि० जैन साहित्य की शुद्धतम प्रतियाँ दक्षिण के शास्त्रागारों में ही वर्तमान हैं। वहाँ प्रत्येक मन्दिर में ही श्रुत देवता की निधि वर्तमान नहीं है, प्रत्युत कुछ व्यक्तियों के पास भी वाङ्मय के अमर रत्न हैं जिनके अन्वेषण की नितान्त आवश्यकता है। प्रस्तुत अनुक्रमणिका में प्रत्येक ग्रन्थ के सम्बन्ध में कर्त्ता का नाम, पृष्ठ संख्या, प्रति पृष्ठ पंक्ति संख्या, प्रति पंक्ति अक्षर संख्या, लिपि, भाषा, विषय, लेखन काल, दशा, पूर्ण अपूर्ण, शुद्ध अशुद्ध आदि बातें दी गई हैं, जिससे पाठक प्रत्येक ग्रन्थ के सम्बन्ध में सामान्य परिचय प्राप्त कर सकता है। तालिका निर्माण में अच्छा परिश्रम किया गया है, कुछ ग्रन्थों के मंगलाचरण भी दे दिये गये हैं। अनुक्रमणिका को सर्वांग सुन्दर बनाने में कोई बात उठा नहीं रखी है।

इस सुन्दर और उपयोगी प्रकाशन के लिये ज्ञानपीठ तथा सम्पादक धन्यवाद के पात्र हैं। प्रत्येक मन्दिर में इसे मगाना चाहिये, जिससे प्रकाशकों को प्रोत्साहन हो और इस तालिका का द्वितीय भाग तैयार कराया जाय। चीज निस्सन्देह अच्छी है, इस एक ही ग्रन्थ से ४००० ग्रन्थों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। अन्तरंग के समान इसका वाह्य कलेवर भी रमणीय है। साहित्य-प्रेमियों को इससे लाभ उठाना चाहिये।

मदनपराजय [हिन्दी अनुवाद सहित]—रचयिताः कविवर नागदेव, सम्पादकः प्रो० राजकुमार जैन साहित्याचार्य. प्रकाशकः भारतीय ज्ञानपीठ काशी, पृष्ठ संख्याः ९४+१४८, मूल्यः आठ रुपये।

इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में प्रो० राजकुमार की ७८ पृष्ठ की विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना है, जिसमें आपने भारतीय आख्यान-साहित्य को धर्मकथा, नीतिकथा, लोककथा और रूपात्मक आख्यान इन चार भागों में विभक्त किया है। धार्मिक कथा साहित्य का वैदिक, बौद्ध और जैन इन तीनों सम्प्रदायों के अनुसार अच्छा ऐतिहासिक वर्णन किया है तथा धर्मकथाओं के विकास को बतलाते हुए जीवन के साथ उनका अनुस्यूत सम्बन्ध बतलाया है। शेष तीन प्रकार के आख्यान साहित्य का भी विकासक्रम की दृष्टि से सुन्दर विवेचन किया है।

प्रस्तावना के अगले अंश में मदन पराजय ग्रन्थ की कथा, उसका आलोचनात्मक परिचय, पात्रों का समीक्षात्मक चरित्र चित्रण, रूपकयोजना, ग्रन्थ की भाषा एवं अन्य रूपकों में प्रस्तुत ग्रन्थ का स्थान, नागदेव कवि का परिचय आदि विषयों का समावेश बड़े सुन्दर ढंग से किया है।

अनुवाद अच्छा हुआ है, पाठक भाषानुवाद पर से मूल ग्रन्थ को हृदयंगम कर सकते हैं। पारिभाषिक और विशेष शब्दों के अर्थ को अवगत करने के लिये अकारादि क्रम से एक कोश दिया है, जिसके सहारे संस्कृत भाषानभिज्ञ भी ग्रन्थ के भाव को सरलता पूर्वक समझ सकते हैं। ग्रन्थ को सर्वाङ्गीण सुन्दर बनाने का प्रयत्न प्रतिभाशाली, विद्वान् सम्पादक का प्रशंसनीय है। छपाई, सफाई और गेटप अत्यन्त सुन्दर है। पाठकों को इसे मंगाकर स्वाध्याय करना चाहिये।

कर-लक्खण [सामुद्रिक शास्त्र]—सम्पादक प्रो० प्रफुल्लकुमार मोदी, एम० ए०, प्रकाशकः भारतीय ज्ञानपीठ काशी, पृष्ठ संख्याः १४+२२, मूल्यः एक रुपया।

इस ग्रन्थ में ६१ प्राकृत की गाथाएँ हिन्दी अनुवाद सहित दी गई है। यह सामुद्रिक शास्त्र की एक छोटी-सी रचना है, इसमें अंगुली और नखों की परीक्षा, मणिबन्ध,

विद्या, कुल, धन, ऊर्ध्व, सम्मान, समृद्धि, आयु, महोन्नर-सहोन्नरा, सौभाग्य, धर्म, व्रत, मार्गण आदि विभिन्न रेखाओं के फलों का निर्देश किया गया है। छोटी-सी कृति में अनेक विषयों का समावेश रचयिता के तज्ञ होने का समुज्वल प्रमाण है। इस रचना के आरम्भ में डा० ए० एन० उपाध्ये का प्राक्कथन संक्षिप्त और मौलिक है, आपने सामुद्रिक शास्त्र की परिभाषा और उसके पूर्वत्य-पाश्चात्य ढाँचे में अन्तर थोड़े ही शब्दों में बता दिया है। सम्पादक का प्रस्तावना भी ग्रन्थ-परिचयात्मक है, इससे साधारणतया विषय का ज्ञान हो जाता है।

अनुवाद मूलानुगामी है, पर इसमें विषय को स्पष्ट करने के लिये हाथ के चित्रों का न देना विषय समझने में अड़चन डालता है। सामुद्रिक शास्त्र का ज्ञान परिभाषाओं के आधार से यद्यपि नहीं किया जा सकता है, चित्रों के आश्रय से विषयानभिज्ञ भी इस विषय को समझ सकता है। इसके सिवा एक कमी यह भी रह गई है कि विषय को बिल्कुल स्पष्ट नहीं किया गया है। अन्य सामुद्रिक ग्रन्थों का आधार लेकर यदि प्रतिपाद्य विषय का स्पष्टीकरण किया जाता तो पाठकों को अधिक लाभ होता। अभी तक जैन ज्योतिष शास्त्र के अनेक ग्रन्थरत्न अप्रकाशित पड़े हैं, आज की जैन प्रकाशन संस्थाओं का ध्यान इस ओर नहीं के बराबर है। ज्ञानपीठ ने इस साहित्य के प्रकाशन का श्रीगणेश किया है, इसके लिये अधिकारी वर्ग साधुवादाह है। ग्रन्थ की छपाई-सफाई अच्छी हैं, अनेक दुनिया के रहन पर भी अपने भविष्य फल के जानने के इच्छुक व्यक्तियों को इसे मगाकर स्वयं अपने सम्बन्ध में भावी शुभाशुभ का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। सामुद्रिक शास्त्र से बिना जन्मपत्री के मात्र हस्तरेखाओं से अपने भविष्य को ज्ञात किया जा सकता है।

कुन्दकुन्दाचार्य के तीन रत्न [पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसार का विषय परिचय]—लेखक गोपालदास जीवाभाई पटेल, अनुवादक शोभाचन्द्र भारिल्ल, प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, पृष्ठ संख्या १४०, मूल्य दो रुपय।

प्रस्तुत रचना में श्री कुन्दकुन्दाचार्य के प्रमुख तीन ग्रन्थ—पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसार का सार व्यावहारिक और आध्यात्मिक दृष्टि से संक्षिप्त और नपे तुले शब्दों में वर्णित है। यह मूल पुस्तक गुजराती में लिखी गई थी, लेखक ने पारिभाषिक और कठिन स्थलों को पादटिप्पणी द्वारा स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है। अनुवादक श्री भारिल्लजी ने परिश्रम कर हिन्दी भाषा भाषी जनता के लिये इसे उपस्थित कर बड़ा उपकार किया है। इस पुस्तक के आधार से निश्चय नय और

व्यवहार नय के स्वरूप को पाठक आसानी से समझ सकते हैं, तथा जीवन में इन दोनों का प्रयोग कर उसे उन्नत और विकसित कर सकते हैं।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में श्री बा० लक्ष्मीचन्द्र जैन एम० ए० के द्वारा लिखा गया एक वक्तव्य है, जिसमें आपने ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय को समझाया है। पश्चात उपोद्घात के प्रारम्भ मे आचार्य कुन्दकुन्द की जीवनी और उनकी रचनाओं पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। आगे चलकर व्यवहार खण्ड में द्रव्य की व्याख्या, गुण-पर्याय का विवेचन, छह्काय के जीव, आत्मा का स्वरूप, कर्मबन्धन, सर्वज्ञता, चारित्र आदि विषयों का प्रतिपादन किया गया है।

द्वितीय पारमार्थिक खण्ड में ज्ञान और आचरण का निरूपण बहुत सुन्दर ढंग से किया है। वास्तव में इस रचना से जैनधर्म के प्रौढ़ सिद्धान्तों का ज्ञान थोड़े श्रम से प्राप्त किया जा सकता है। ज्ञानपीठ ने इस ग्रन्थ का प्रकाशन कर स्वाध्याय प्रेमियों के लिये ज्ञानवर्द्धन का अच्छा साधन उपस्थित किया है। छपाई-सफाई अच्छी है, ज्ञान-पिपासुओं को मगाना चाहिये।

वर्णी-वाणी [पं० श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी के विचारों का संकलन]— संकलयिना और सम्पादकः वि० 'नरेन्द्र' जैन, प्रकाशक, श्री साहित्य-साधना समिति, जैन विद्यालय काशी; पृष्ठ संख्याः २२+१३३ मूल्यः एक रुपया दस आना।

पुस्तक के प्रारम्भ मे श्री० पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री की श्रद्धाञ्जलि है, आपने वर्णी जी के जीवन की दो-एक रश्मियो का दिग्दर्शन कराया है।

पश्चात् श्री बालचन्द्र जैन विशारद ने वर्णीजी के जीवन पर यत्किञ्चित् प्रकाश डाला है। पुस्तक मे आत्म-शक्ति आत्मनिर्मलता, किराकुलता, रागद्वेप, परिग्रह, पुरुषार्थ धर्म, त्याग की महिमा, मोक्षमार्ग, भक्ति का रहस्य, चारित्र का फल, श्रद्धा, मानवता, शान्ति, स्वदेश, स्वोपकार, परोपकार, आदि विषयों पर वर्णीजी के विचारों का संकलन किया गया है। वास्तव मे वर्णीजी का लोकोत्तर व्यक्तित्व महान् है, उनकी अन्तरात्मा से निकले हुए प्रवचन संसारी प्राणियो के लिये अत्यन्त कल्याणकारी है। श्री नरेन्द्रजी ने पूज्य वर्णीजी के वचनामृतों का संकलन कर मानव समाज का महान् उपकार किया है, जो व्यक्ति वर्णीजी के समक्ष नहीं रहते, वे भी उनके इस संकलन से जीवन में सम्बल प्राप्त कर सकेंगे। यह केवल जैनों की वस्तु नहीं, प्रत्युत मानव मात्र के लिये स्वास्थ्यकर है। इस उपयोगी और सफल प्रकाशन के लिये संग्राहक और प्रकाशक धन्यवाद के पात्र है। हर्ष तो इस बात का कि स्या० वि० काशी के छात्र श्री० पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री के तत्त्वावधान में ज्ञानार्जन के साथ-साथ

साहित्य सेवा की ओर भी प्रवृत्त हो रहे हैं, यह जैन ज्ञान-ज्योति के संवर्द्धन और प्रसार का शुभ लक्षण है। हम इस सर्वाङ्गपूर्ण सुन्दर प्रकाशन के लिये साहित्य-साधना समिति की कलाभिरुचि का स्वागत करते हैं। गेटप, छपाई-सफाई आदि निहायत सुन्दर और आकर्षक हैं।

नेमिचन्द्र शास्त्री

जैनधर्म—लेखक श्री प० कैलाशचन्द्र शास्त्री, काशी, प्रकाशक भा० दि० जैन संघ चौरासी, मथुरा, पृष्ठ संख्या ७+३+३७०, मूल्य चार रुपये।

इस उपयोगी और महत्त्वपूर्ण पुस्तक की भूमिका संयुक्तप्रान्तीय शिक्षा विभाग के मंत्री डा० सम्पूर्णानन्दजी ने लिखी है। आपने इस पुस्तक के सम्बन्ध में प्रकाश डालते हुए इसे जैनधर्म के ज्ञान के लिये अतीव उपयोगी बतलाया है। इसमें जैनधर्म के इतिहास, दर्शन, आचार, साहित्य, पंथ, पर्व, तीर्थक्षेत्र आदि विषयों पर समुचित प्रकाश डाला गया है। यह पुस्तक पाँच खण्डों में विभक्त है—प्रथम खण्ड में जैनधर्म का सारगर्भित इतिहास, द्वितीय में जैन दर्शन के अनेकान्त, द्रव्य व्यवस्था, ईश्वर, सृष्टि और कर्म सिद्धान्त की मीमांसा, तृतीय में श्रावकाचार और मुन्याचार का विस्तृत विवेचन, चतुर्थ में दिगम्बर और श्वेताम्बर साहित्य के दर्शन, व्याकरण, आचार, न्याय, ज्योतिष, वैद्यकप्रभृति विभिन्न अंगों का समुल्लेख, एवं पंचम में जैन संघ, संघ भेद, दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी, तेरहपंथ, बीसपंथ, तारण पंथ, जैनपर्व, जैन तीर्थ क्षेत्र, जैनधर्म की इतर धर्मों से तुलना तथा अन्तर इत्यादि बातों का सम्यक् प्रतिपादन किया गया है। वास्तव में यह पुस्तक जैनधर्म के सम्बन्ध में सर्वाङ्ग पूर्ण है, इसे किसी भी अजैन विद्वान के हाथों में देने पर गौरव का अनुभव होता है। आज का पाठक आलोचनात्मक ढंग से जिस चीज को पाना चाहता है इसमें पा लेता है। इस पुस्तक के आद्योपान्त पढ़ने से लेखक की जैन दर्शन विषयक अलौकिक विद्वत्ता एवं जैन इतिहास विषयक असाधारण निपुणता का पर्याप्त परिचय मिल जाता है।

आजके लेखक को जिस संयम और नियन्त्रण की आवश्यकता होती है, प्रस्तुत पुस्तक के लिखने में उसका पूर्णतः निर्वाह है। इसीलिये पुस्तक में अनावश्यक विस्तार नहीं है। निस्सन्देह अबतक इस सम्बन्ध में लिखी गई पुस्तकों में यह सर्वोत्तम है। पुस्तक की भाषा प्रवाह ऐसा सुन्दर है जिससे पाठक प्रारम्भ करने पर अन्त किये बिना नहीं छोड़ सकता है, यह बरबस बीच में रोकने की इच्छा करने पर भी सुन्दरता

पुढकता किनारे लग ही जाता है। धार्मिक साहित्य जो कि आज की दुनिया के पाठकों के लिये उपेक्षा की चीज है, इस पुस्तक के अध्ययन से यह बात भ्रान्त सिद्ध हुए बिना नहीं रहेगी। ग्रन्थ की शैली रोचक और आशु बोधगम्य है, व्यवस्थित विषय का अंकन हृदय पटल पर पढते ही होता चला जाता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि इस सुन्दर और उपयोगी पुस्तक को शीघ्र हाथों हाथ खरीद कर अन्य दूसरी इस विषय की अनुपम रचना लिखने के लिये शास्त्रीजी बाध्य करें; जिससे जैन साहित्य आजके राष्ट्रीय और नैतिक साहित्य में अपना उचित स्थान पा सके। छपाई-सफाई, गेटप आदि सुन्दर हैं।

ब्र० चन्दाबाई जैन

राजुल काव्य—रचयिताः कवि बालचन्द्र जैन, प्रकाशकः साहित्यसाधना-समिति, जैन विद्यालय काशी। पृष्ठ १३२, छपाई-सफाई और कागज उत्तम, मूल्य १।।)

पुस्तक के प्रारम्भ में श्री० ब्र० प० चन्दाबाई जी की आलोचनात्मक विद्वत्तापूर्ण सुन्दर भूमिका है। आपने इसमें राजुल काव्य की विशेषताओं पर पूरा प्रकाश डाला है। इस ग्रन्थ का कथानक—"द्वारकाधीश समुद्र विजय के सुपुत्र—भगवान् नेमि का विवाह, गिरि-नगर की राजकुमारी राजुल के साथ हो रहा था, बारात अभी पहुंच रही थी, भगवान् नेमि ने देखा और सुना कि—ये बहुत से पशु बाराती मांसाहारी राजाओं की तृप्ति के लिए लाये गये है। करुणा-समुद्र उमडा, पशुओं को प्राणदान दिया और आप साधु होने के लिए गिरिनार पर्वत चल दिये। राजुल समझाने गई और स्वयं साध्वी होगई।

भाषा सरल, भाव कोमल, गुण प्रसाद, कल्पनाएं मधुर और इतिवृत्त संक्षिप्त है पौराणिक कथानक परिवर्त्तन से निखर उठा है, राजुल की विरह, वेदना और टीस को कवि ने बडे सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त किया है।

सुकुमार काव्याङ्गों के उपयुक्त अलंकार भी हैं। कहीं २ "विचर रहे" "विसार रहे" "अवरोध हुआ" आदि में अनुप्रास या तुकबन्दी का पालन नहीं हुआ। "हास औ प्रति (!) हास" (७७ पद्य) "किन्तु स्मरण (!) भी" "मैं न (!) मानूं (९४ पद्य) आदि में मात्राओं की कमी, "तुम्हारे (!) को क्यों प्रेमी मानूं" "पद्य की—अनुगामी (!) व्याकरण-विरुद्ध, "परिणीत कियातूने (!) मुझको, "अधिकार कहां तुझको (!)" आदि में एक वचन-प्रयोग सौन्दर्य-विरूपक हैं, तथापि प्रथम प्रयास में ही कवि बहुत कुछ

सफल हुआ है। राजुल के त्याग और आत्म-सम्मान को कवि महिलाओं में लाने के लिए अनुप्राणित हुए हैं अर्थ "नारी तो तन, मन, जीवन दे" नारी न कभी इतनी ओछी होती जितना नर बन जाता" आदि पदों को उन्होंने लिखा है परन्तु भगवान् नेमी के उच्च आदर्श को "जितना ओछा नर बन जाता" कह कर विरुद्ध—अर्थ प्रतिपादन किया है। हम कवि और उनकी कलम के प्रति शुभ कामना रखते हैं। रचना सरस, सुन्दर और हृदय स्पर्शी है। इसका अधिक प्रचार होना आवश्यक है।

महेन्द्रकुमार काव्यतीर्थ

भाग्यफल [भाग्य प्रकाशक मार्तण्ड]—ले० प० नेमिचन्द्रशास्त्री, ज्योतिषाचार्य, प्रकाशक कान्तकुमार आरा, पृष्ठ संख्या १३१, मूल्य सजिल्द एक रुपया दस आना, अजिल्द एक रुपया आठ आना।

जिसके पास जन्मपत्री नहीं है, व व्यक्ति भी अपने शुभाशुभ फल को इस पुस्तक के आधार से जान सकते हैं। लेखक ने इसमें भारतीय ज्योतिष के अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के आधारपर स्वभाव, चरित्र, विवाह, आय-व्यय, सन्तान, रोग, उन्नति, अवनति, मृत्यु आदि विभिन्न बातों का सुन्दर प्रतिपादन किया है। साधारण जनता भी केवल अपने उत्पत्ति के महीने से ही सारे फलादेशों को अवगत कर सकती है। पुस्तक की शैली रोचक, और आकर्षक है। वास्तव में लेखक ने इस पुस्तक के द्वारा हिन्दी में ज्योतिष विषय का सृजन करके हिन्दी भाषा भाषी जनता का उपकार किया है। देश को आज राष्ट्र भाषा में विभिन्न प्रकार के साहित्य की नितान्त आवश्यकता है। ज्योतिष भारत वर्ष का प्राचीन विज्ञान है, आज इसका प्रचार हिन्दी में अवश्य होना चाहिये। यह पुस्तक नितान्त उपयोगी है, साधारण जनता के काम की है इससे साक्षर या निरक्षर सभी प्रकार के व्यक्ति अपने भाग्य को बिना ज्योतिषी के अपने आप जान सकते हैं। फल प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार से लिखा गया है और आशा है कि बिल्कुल यथार्थ घटेगा। छपाई-सफाई अच्छी है, भाषा साहित्यिक है। पाठकों को इसे मगाकर अपना फल स्वयं ज्ञात करना चाहिये।

तारकेश्वर त्रिपाठी, ज्योतिषाचार्य

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा का वार्षिक विवरण

[२५-५-४७—११-६-४८]

वीर संवत् २४७३ ज्येष्ठ शुक्ला पञ्चमी से वीर सवत् २४७४ ज्येष्ठ शुक्ला चतुर्थी तक 'भवन' के सामान्य दर्शक-रजिस्टर में ७१५४ व्यक्तियों ने हस्ताक्षर किये हैं। इधर जबसे भारत को स्वातन्त्र्य की प्राप्ति हुई है, समाचार-पत्र पढनेवालों की सख्या बढ़ती जा रही है। नगर के मध्य में 'भवन' के रहने से समाचार-पत्रों के पढनेवाले पाठक अधिकाधिक संख्या में आते है, इनमें से अधिकाश ऐसे भी हैं जो दर्शक रजिस्टर में हस्ताक्षर नहीं करते; अत' इस प्रकार की कृपा करनेवाले व्यक्तियों की सख्या भी हस्ताक्षर करनेवाले व्यक्तियों से कहीं अधिक है।

विशिष्ट दर्शको में श्रीमान् वाई० जी० पद्मराजैय्या, प्रोफेसर महाराज कालेज मैसूर, श्रीमान् पं० जनार्दन मिश्र वेदाचार्य डुमरॉव, श्रीमान् पं० रामव्यास ज्योतिषाचार्य, हिन्दू विश्वविद्यालय काशी श्रीमान् एस० बी० इन्स्पैक्टर पजाब नेशनल बैंक; श्रीमान् सी० बूलछे रिसर्च स्कालर इलाहाबाद यूनीवर्सिटी; श्रीमान् प्रो० गो० खुशाल जैन एम्० ए० साहित्याचार्य काशी एव बाबा राघवदास आदि विद्वानों के नाम उल्लेख योग्य हैं। इन विद्वानों ने अपनी शुभ सम्मतियों द्वारा 'भवन' की सुव्यवस्था और उसके सग्रह की मुक्त-कण्ठ से प्रशसा की है। 'भवन' के प्राचीन मूल्यवान् संग्रह का विवरण विश्वमित्र और आर्यावर्त दैनिक पत्रों में भी प्रकाशित हुआ है।

प्रकाशनः—'भवन' के इस विभाग में जैन-सिद्धान्त भास्कर तथा जैन एन्टीकेरी' का प्रकाशन पूर्ववत् चालू रहा। 'भास्कर' उत्तरोत्तर लोकप्रिय होता जा रहा है, इसके भाग १४ के सम्बन्ध में प्रो० सुरेन्द्रनाथ घोषाल, प्रो० जगन्नाथराय शर्मा, और श्रीमान् तेजनारायणलाल सदाकत आश्रम पटना ने अपनी महत्त्वपूर्ण सम्मतियाँ भेजी हैं। आप लोगोंने भास्कर की ठोस सामग्री की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। इसे जैन इतिहास का एक उपयोगी ग्रन्थ बतलाया है।

परिवर्तन'—इस वर्ष भी प्रतिवर्ष के समान 'भवन' के प्रकाशन से परिवर्तन में ग्रन्थ लिये गये। निम्नलिखित पत्र पत्रिकाएँ भी 'भास्कर' के परिवर्तन में आती रही हैं—

हिन्दी—(१) नागरी प्रचारिणी पत्रिका (२) सम्मेलन पत्रिका (३) साहित्य सन्देश (४) अनेकान्त (५) विज्ञान (६) आजकल (७) किशोर (८) वैद्य (९) हिमालय (१०) जिनवाणी (११) जनवाणी (१२) सगम (१३) जैन महिलादर्श (१४) दिगम्बर जैन (१५) आरोग्य (१६) आत्मधर्म (१७) जैन जगत (१८) जैन बोधक (१९) वीर-वाणी (२०) महावीर सन्देश (२१) खण्डेलवाल जैन हितेच्छु (२२) वीर (२३)

भारतीय समाचार (२४) वीर लोंकाशाह (२५) जैन मित्र (२६) जैन सन्देश (२७) जैन गजट (२८) नवहिन्द—दैनिक का साप्ताहिक विशेषाङ्क (२९) भविष्य फल।

गुजराती—जैन सत्यप्रकाश

कन्नड़—(१) जयकर्णाटक (२) शरणु साहित्य (३) विवेकाभ्युदय।

तेलगु—आन्ध्र साहित्य परिषद् पत्रिका।

अंग्रेजी—(1) Annalas of the Bhandarkar oriental research istitute Poona (2)The journal of the university Bombay (3)Karnatak historical revew (4) The Adhyar library bulleten (5) The journal of the United province historical society (6) The journal of Annamalia university (7) The Poona orientalist. (8) The quarterly of my wic society (9) (10) The journal of the Rayalasiatic society of Bengal (11) The journal of the Royalasiatic society of Bombay (12) The Fergusson College magazin (13) The journal of the Bihar and Orissa research society (14) The journal of the Benares Hindu university (15) The Andhra university college magazine and chronical (16) The journal of the Sindh historical society (17) The journal of tanjore saraswati library (18) The Bombay theosophical bulletin (19) The Jain jezele (20) The Indian litrary review (21) The Journal of the Ganganath Jha research institute Allahabad (22) The Brahim bidva (23) Hima layant imes

इस प्रकार भास्कर के परिवर्तन में कुल ५७ पत्र पत्रिकाएँ आती रही हैं। इनके अतिरिक्त the Indian historical quarterly (२) विशाल भारत (३) सरस्वती (४) साप्ताहिक संसार (५) दैनिक संसार (६) आज (७) सन्मार्ग (८) विश्वमित्र (९) आर्यावर्त (10) The Searchlight (11)The Indian nation (12) भारत (१३) लीडर ये पत्र मूल्य देकर 'भवन' में मँगाये जाते रहे हैं।

पाठक—भवन के सामान्य पाठक वे हैं, जो भवन में ही बैठकर अभीष्ट ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं। क्योंकि सर्वसाधारण जनता को ग्रन्थ घर ले जाने के लिये नहीं मिलते। इन पाठकों के अतिरिक्त विशेष नियम से कुछ लोगों को घर ले जाने के लिये भी ग्रन्थ दिये गये हैं। इन ग्रन्थों की इस वर्ष की संख्या ५५२ है। इनमें स्थानीय व्यक्तियों के अतिरिक्त श्रीमान् प० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्त शास्त्री स्याद्वाद विद्यालय काशी, श्रीमान् प्रो० गो० खुशाल जैन एम० ए०, साहित्याचार्य काशी विद्यापीठ बनारस, श्रीमान् प० फूलचन्द्रजी सिद्धान्त-शास्त्री वर्णी ग्रन्थ माला काशी, श्रीमान् बा० कामताप्रसादजी जैन एम० आर० ए० एस०, श्रीमान् डा० ए० एन० उपाध्ये एम० ए०, डी० लिट् कोल्हापुर, श्रीमान् रामसिंह तोमर एम० ए० रिसर्च स्कालर शान्तिनिकेतन बंगाल, श्रीमान् अगरचन्द नाहटा बीकानेर,

श्रीमान् प्रो० शेषय्यंगार एम० ए० मद्रास यूनीवर्सिटी, श्रीमान् कविवर रामाधारीसिंह 'दिनकर' पटना; श्रीमान् बा० रामबालक प्रसाद पटना, श्रीमान् रजनीकान्त शास्त्री बक्सर; श्रीमान् उमाकान्त प्रेमचन्द शाह घडियालीपोल, बडोदा; श्रीमान् प्रो० राजकुमार साहित्याचार्य बड़ौत; श्रीमान् पं० परमानन्द शास्त्री, वीर-सेवा-मन्दिर सरसावा; श्रीमान् सी० वूलच्छे जर्मन स्कालर इलाहाबाद यूनीवर्सिटी।

संग्रह—पूर्ववत् इस वर्ष भी मुद्रित संस्कृत, प्राकृत, मराठी, गुजराती एवं हिन्दी आदि विभिन्न भारतीय भाषाओं के ५० ग्रन्थ और अंग्रेजी के १०, इस प्रकार कुल ६० ग्रन्थ संग्रहीत हुए।

'भवन' को इस वर्ष ग्रन्थ प्रदान करनेवालों में दिगम्बर जैन स्त्री समाज आरा, श्रीमान् बा० हेमेन्द्रचन्द्र जैन आरा एव व्यवस्थापक आर्चलोजिकल मैसूरु आदि के नाम उल्लेख योग्य है।

समालोचनार्थ प्राप्त ग्रन्थ—(१) महाबन्ध (महाधवल-सिद्धान्त-शास्त्र) (२) दो हजार वर्ष पुरानी कहानियाँ (३) हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त जैन इतिहास (४) आत्म समर्पण (५) आधुनिक जैन कवि (६) मुक्तिदूत (७) पथचिन्ह (८) षट्खण्डागम (धवला टीका ८ वीं जिल्द) (९) मदन पराजय (१०) करलक्खण (११) कन्नड प्रान्तीय ताड़पत्रीय ग्रन्थ सूची (१२) कुन्दकुन्दाचार्य के तीन रत्न (१३) तत्त्वार्थ सूत्र (१४) मोक्षमार्ग प्रकाश (१५) जैनधर्म (१६) वर्णी वाणी (१७) राजुलकाव्य (१८) भाग्यफल।

साहित्यिक और धार्मिक सभाएँ—आरा नगर में भवन के जैसा विशाल और सुरम्य दूसरा प्राङ्गण नहीं है, इसलिये इस प्राङ्गण में सांस्कृतिक एवं साहित्यिक समारोह प्राय: प्रत्येक महीने में होते रहते हैं। श्रुतपंचमी और महावीर-जयन्ती इन धार्मिक समारोहों के साथ-साथ शाहाबाद जिला-हिन्दी-साहित्य सम्मेलन और सांस्कृतिक जागरण समिति के नैमित्तिक समारोह भी होते रहे। शाहाबाद जिला-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की ओर से तुलसी जयन्ती का समारोह इस भवन में ऊँचे पैमाने पर मनाया गया था, जिसमें बाहर के विद्वान् भी सम्मिलित हुए थे।

इस वर्ष लगभग दो सहस्र रुपये व्यय करके 'भवन' की पूरी बिल्डिंग पर 'रंग' करा दिया गया है तथा अलमारियोंपर पालिस भी करा दी गयी है: जिससे भव्य भवन की शोभा और भी अधिक बढ गयी है।

देवाश्रम, आरा
१२-६-४८

चक्रेश्वर कुमार जैन
बी० एस-सी०, बी० एल०
मंत्री, श्रीजैन-सिद्धान्त-भवन आरा

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. XIV JULY, 1948 No I

Edited by

Prof A N Upadhya M A., D Litt.
Prof G. Khushal Jain, M A Sahityacharya
B Kamata Prasad Jain M R A.S. D L.
Pt Nemi Chandra Jain Shastri, Jyotishacharya

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
ARRAH BIHAR INDIA

Annual Subscription
Inland Rs 3 Foreign 4s 8d Single Copy Rs 1/8

CONTENTS.

Vol XIV No 1 | ARRAH (INDIA) | July 1948

MOHEN JO DARO ANTIQUITIES & JAINISM

and Harappa iconism is everywhere apparent In the houses of Mohenjodaro the fire pit is conspicuosily lacking"[2] However it has been pointed out somewhere that a reference to the image of Indra is traceable in Rigveda, but it certainly does not establish the fact that iconism was in vogue among the Rigvedic people, as it was within the folds of Indus valley[3] At any rate the Vedic people never worshipped and made such images of Yogis as are found at Mohenjodaro Viewing the numerous seals, terracotta figures and icons of the Mohenjodaro and Harappa antiquities, which form the concrete evidence to determine about the religious belief of the people, one finds a parallel line of two streams of human thought working among the Indus people. One section of people was not highly civilised. It observed premitive ideas and conventions and had little regard for Ahimsa, They worshipped Shiva Linga, Mother Goddess & trees and offered goats to them in sacrifice Shiva as a deity is obscure in Vedic literature Reference to Rudra does not signify the prevalance of Shiva worship in the Rigvedic society. Rather the Rigvedic people were antigonastic towards those who worshipped Shishnadeva (phallus) as deity[4] Thus Mohenjodaro people of the non-Ahimsā pursuasion were not related with the Aryans of Rigvedic culture But at the sametime in contrast to these people, there existed a more civilised and cultured society of people at Mohenjodaro, who were true followers of Ahimsā and Yoga They observed Yogadharma and their Yogīs lived a life of abstinence and penance, which was more akin to the religious observance of a Jaina Yogi There are reasons to believe that they were followers of Rishabha cult of yore, which afterwards came to be known as Jainism

Regarding the racial affinity of the Mohenjodaro people, it is said that they were either connected with Sumerians or came from Dravidian stock Prof Pran Nath deciphired a copperplate grant

2. *Sir John Marshall*, Mohenjo-daro, Vol I. pp 110-111.
3. cf. 'अन्तीर्मा शिश्नदेवा अपि गुऋत न'—ऋग्वेद, ७।२१।५
'स वाजं या ताप दुष्पदा यन्त्स्वर्षाता परिषदत् सनिष्यन्।
4 अनर्वा यच्छतदुरस्य वेदोघ्नञ्छिश्नदेवा अभिवर्पसा भूत ॥
—ऋग्वेद १०।९९।३

of the Babylonian king Nebuchadnezzar I (circa 1140 B C) found in Kathiawar, which disclosed that that king belonged to Sumer tribe and was the lord of Rewānagar Nebuchdanezzar is mentioned in it, as to had visited Mt. Revata and paid homage to Tirthankara Nemi [5] According to certain Indian opinion the Sumerians originally belonged to Surashtra tract of India and their religion was akin to Jainism [6] It shows that Sumerians were not totally unacquainted of Jainism, rather they betray Jaina influence in their early beliefs Hence if Sumerians were concerned with Indus civilisation then it is not strange to find similarities between the Jaina and Indus people observances

But the general tendency of the scholars is towards the hypothesis that the Indus people were of Dravidian stock In this respect Western scholars uphold that Dravidians were not Aryans and came from Turāna But Indian tradition regards them as Ksatriyas who were degraded to Vrsalahood owing to having remained out of touch of Vedas and Brahmanas It shows that although these Dravidians were Ksatriya Aryans but they were not the followers of the Vedic religion Manu makes them along with Lichhavi Jnātra and other Ksatriyas as Vrātyas [7] who again can be the Jainas and none else [8] The Jaina tradition too claims that the progeny of Prince Dravida who was the son of Rishabha the first Tirthankara, came to be known as Drāvidas and there had been princeascetics known as Dravida Narindras in to Jain tradition, who are worshipped even today by the Jainas [9] It is evident also from Tholkappiyam the ancient grammar of the Tamils that the Dravidians were equally civilised like Aryans and were acquainted with the tenets of Jainism [10] Jainism played an important role among the Dravidians So rightly remarks Major General J G R

---

5 Times of India 19th March 1935 p 9 & जैन (गुजराती) भाग
—३८ अंक ३ पृ० ३

6 [illegible]

7 Manu.

8 A Chakravarti Jaina Gazette Vol XXI pp 6 & P Jayaswal
—Modern Review 1929 p 499

9 Satrunjaya mahātmya

10 Jaina Literature in Tamil (Arrah) pp 10-14

Furlong that "All Upper, Western, North Central India was then—say 1500 to 800 B. C. and, indeed, from unknown times—ruled by Turanians, convinient called Dravids and given to tree, serpent and Phalik worship... ..but there also then existed thoughout Upper India an ancient and highly organised religion, philosophikal, ethikal and severely ascetikal. viz, Jainism, out of which clearly developed the early ascetikal features of Brahmanism and Buddhism"[11] Thus Dravidians, too, were under the influence of Jainism from a very early period and as such, if they are the real founders of Indus civilisation, they would naturally betray the influence of Jainism in their creations.

The antiquities of Mohenjodaro & Harappa, if studied in keeping the above facts in view and giving credit to the Jaina tradition that Jainism prevailed long before Pārsvanātha and Mahāvira betray evidence of the Jaina influence in the following aspects:—

1 *Nudity*—Nudity had been an essential characteristic of the Jaina Sramanas.[12] Rishabha, the first Tirthankara, observed the vow of the nudity and his images are found as nude. People of Mohenjodaro also held nudity with esteem and as a sacred thing. Nude figures of male as well as of a certain female are found at Mohenjodaro These figures depict personages who are but no other than Yogis [13]

2 *Yogadharma*—A number of statuettes have been recovered at Mohenjo which are characteristic by halfshut eyes, the gaze being fixed on the tip of the nose "These statuettes clearly indicate that ......the people of the Indus Valley in the Chalcolithic period not only practised Yoga but worshipped the images of the yogis [14]" We are informed that "Not only the seated deities engraved on some of the Indus Seals are in Yoga posture and bear witness to the prevalence of Yoga in the Indus Valley in that remote age, the standing deities on the seals also show Kayotsarga posture of Yoga

11 Short Studies in the Science of Comparative Religions, pp 243-4
12 'Nudity of the Jain Saints by C R Jain (Delhi)
13 Mohenjodaro, Vol I pp 33-34
14 Survival of the Pre-historic Civilisation of the Indus Valley. (Memoir of the Arch' Survey of India)

A standing image of Jina Rishabha in Kayotsarga posture on a stele showing four such images assignable to the second century A D in the Curzon Museum of Archaeology Mathura (was repro duced in the 'Modern Review for August 1932) It will be seen that the pose of this image closely resembles the pose of the standing deities on the Indus seals The name Rishabha means bull and the bull is the emblem of Jina Rishabha The standing deity figured on seals three to five (pl 11) with a bull in the foreground may be the proto type of Rishabha[15] In the Digambara Jaina text ADIPURANA (Book xxi) a full exposition of Dhyana (Meditation) is given and in it there is an instructive account of the Yoga postures Regarding the pose of the eyes it is stated in it (xxi 62) 'Natyunmisan na cityamtam nimisan'— 'Neither keeping the eyes wide open nor totally shutting them up As to Yoga postures the author of Adipurana (xxi 71) writes with the mind distracted, how can one practis Dhyana? Therefo e the easy postures Kāyotsarga and Paryank are desirable other postures are painful This Kāyotsarga (dedication of body in standing) posture is p ularly Jaina Hence it is most probable that the people of Indus Valley followed the Yoga cult of Tīrthankara Rishabha who according to the Hindu Purāṇa was responsible to introduce the Yoga system of Paramhamsa type and was counted as eighth Avatār of Vishnu[16]

3 *Adorable Deities*—Apart from the Mother Goddess & phallus worship the people of Indus adored some other deities, which can be traced in the figures on seals Prof Pran Nath deciphired the ins cription of the Indus seal No 449 and he read on it the word Jinesvara (जिनइसर)[17], which is a peculiar term by which a Jaina Tirthankara is known It points out that worship of Jaina Tirthan karas was not obscure at that period Besides this, Prof Prān Nāth was of opinion that Indus people worship such Tantrik deities as Śri, Hri Klim etc.[18] In the Jain pantheon Sri, Hri Dhrati Kirti Buddhi and Lakshmī are important female deities.[19] Hence we

---

15 *R P Chanda*, Modern Review August 1932 pp 155 160

16 Bhāgavata

17 Indian Historical Quarterly Vol VIII Supplement p 18

18 Ibid

19 Tattwārthdhigama Sūtra

HEROES OF THE JAIN LEGENDS.

By

(Dr Hansatya Bhattacharya, M A, B L, Ph D)

Contd from Vol. XIII No II pp. 18-29.

There was a talk of Sītā's being taken back To disarm popular suspicions, Rāma proposed the ordeal of fire for Sītā Sītā agreed. According to the Jaina account, the gods made Sītā's fire cool and when Sītā entered it,—lo! there was a beautiful tank and an extensive lotus in it, upon which Sītā was found sitting There could not be any possible objection now. But Sītā herself was disgusted with the ways of the world; so when her innocence and chastity were established beyond all possible cavils, she took initiations from Prithvimati, the bader of nuns and entered the order The Jaina account of Prithvīmatī, the nun, initiating Sītā is scarcely less poetic, though more realistic, than Vālmiki's story of Prithvī, the mother-earth, taking her away. We need hardly remind the readers that Vālmiki's Rāmāyaña discribes Sītā's fire-ordeal as happening at Lankā, after the battle with Rāvaña and her rescue

As regard the death of Rāma and Lakshmaña, the Jainas say that a god, wanting to test the affection of the two brothers for each other, came down and kept Rāma senseless He informed Lakshmaña that his brother was dead, which was more than Lakshmaña could bear. Lakshmaña died. Rāma coming back to his senses became mad at the sight of Lakshmaña's corpse He carried the dead body on his shoulder for full six months on the belief that it was still alive At last some gods convinced him of the utter futility of his act, where upon he got himself initiated into the religious order. Sugrīva, Bibhīshaña, Śatrughna etc. did also the same thing Rāma attained Salvation.

Perhaps the most important thing to be noticed in the Jaina version of the Rāma-story is the fact that the Rākshasas and the Vānaras there, are not conceived as beings in any way other than man They are discribed as Vidyādharas i. e., men, endowed with Vidyā or knowledge of extraordinary arts. They are also regarded

as firm believers in the Jaina cult Ordinary people of the Brāhmañic faith look upon the Rākshasas as superhuman demons of man eating and other evil habits and the Vānaras, as monkeys But instead of looking upon them as imaginary beings like the devils of the Jewish testaments, one may feel tempted to hold that the Rākshasas and the Vānaras at least of the Rāmāyaña were human beings perhaps with a culture and civilisation lower than that of the pure Aryans and perhaps, of a stock, different from theirs While giving support to this view we may point out that the descriptions of Lankā and Kishkindhya, which we meet with in Valmiki s Rāmayaña, do not show that the Rākshsas and the Vānaras were uncivilised barbarians As a matter of fact in the Vēdic Śāstras, notably in the Mahābhārata there are indications in many places that the Rākshasas were very wise, even exceptionally pious people There are instances, cited in the Vēdic Śastras, where a full blooded Indo Aryan became a Rākshasa there are also passages in those books to show that some of the Rākshasas were descendants of high caste Aryans of India All these facts go to show that the Rākshasas (and the Vānaras) of the Rāmāyaña were not legendary creatures of imagination but were actually human people with a culture, scarcely lower than that of *the Indo Aryans and constantly coming in contact with them It is* needless to mention that the Jaina scriptures expressly and in so many words, maintain this view,—viz, that the Rākshasas and the Vānaras were but human beings Perhaps the attribution of an Indo Dravido-Aryan character to this human stock of the Rākshasas and the Vānaras may not be very wrong

The Rākshasas, as is well known, are generally painted in darkest colours in the Brāhmañic literature In Valmiki s Rāmāyaña they are described as disturbers of the sacrificial ceremonies At many places, they are made to appear as thoroughly bad, cruel and immoral people In the Jaina Purāñas as we have said already, the Rākshasas are described as believers in the Jaina faith Considering these two accounts together some of the present day scholars vehemently urge that the Vēdic people denounced the Rākshasas, *because they were Jainas* One of the protagosnits of this remarkable theory goes so far as to say that the descriptions of the Rākshasas in Valmiki s Rāmāyaña clearly show that they could not be other

than Jaina and that the author of the Rāmāyaña presented them in hideous forms, simply out of religious bigatry. Notwithstanding the attractiveness which all startling theories have, we confess we are unable to subscribe to this position. It is impossible that Jainism as a positive faith,—i e., as a religion, clearly distinguished from other religions, as in modern times,—existed in the days of the Rāmāyaña, so that the question of religious animosity cannot arise in the case of Vālmiki. This does not necessarily mean that Brāhmiñism is the earlier faith from which Jainism grew up at a later determinable epoch of time. We are of opinion that the religion which was prevalent in the days of the Rāmāyaña,—may for the matter of that, in times, earlier than the 6th or the 7th centuries B.C.—was one in which the essentials of Brāhmiñism, Jainism and Buddhism were embedded. This ancient faith, cult or religion which was conglomerate of all the three systems and various other minor persuasions which flourished in India at later times, was none of them in their full-fledged and distinctive forms but was inclusive of all, embodying the most fundamental elements of each We are supported in our contention by the testimony of the sacred literature of each of the three faiths In the Vēdic Purāñas of comparatively older ages, for instance, we do not find references to any other rival faith. The princes and the people of the various countries of India are represented as believers in the Vēdic religion. Similarly, in the Buddhist legendary accounts of the pre-Buddha days, we hear only of previous Buddhas, Pratyika-Buddhas, Bōdhi-Sattvas and people, believing in Buddha. The existence of any religion, antagonistic to Buddhism,—is very seldom referred to. In the Jaina Purāñas too, we come across accounts of Jaina sages, Jaina prophets and people, professing the Jaina faith. Very rarely, if at all, we hear of the prevalence of any other religion. The one conclusion, which seems to be irresistible, from the above accounts is that in those days the religion which was prevalent in India was an all-embracing one and that Brāmiñism, Jainism and Buddhism, as we understand them now i e., as distinctive faiths, exclusive of each other, did not exist. This is the reason why Rishabha, the first Jaina Tīrthaṁkara is found to have been honoured as an incarnation of Vishñu in the Vēdic literature. The place of honour accorded to each of Bharata, Sagara,

Bhagiratha Krishña the Pañdavas and numerous other personages in both the Jaina and the Brâhmañic literature is to be explained in this way The denunciation of Râvana and his Râkshasa hordes with equal emphasis by the Jaina and the Brâhmañic sacred books can be explained in no other way The description of Râma as an ideal man which we meet with in the Brahmañic, the Jaina and the Buddhist literatures, points to the same thing Had Jainism been a positive and distinctive religion, existing in antagonism with the Brâhmanic cult in the days of Râma, we could not have expected to have Râma who is described as a Jaina in the Jaina Purâña, accepted as the best of mortals by the Brâhmañic literature in other words, if Vâlmiki be held to have been actuated in any way by a spirit of religious hatred against Jainism, we would have found him denouncing Râma in the same way as he did the Râkshasas The fact is that distinctive religions did not exist in India before the 6th and the 7th centuries B C and religious spite and bigotry cannot be attributed to Vâlmiki and other writers of his age

In this connection we may be permitted to make a short digression and say that even at a later time when Brâhmiñism, Buddhism and Jainism began to flourish as rival faiths,—sword was very seldom resorted to by any of them to establish its supremacy We are no doubt told that king Saśânka of Karña Suvarña cut off the Bôdhi tree We are also treated with the story that the celebrated Sankarâchâryya was thrown into a cauldron of boiling oil by the Buddhist high priest In the inscriptions of Asôka, we get references to his discrediting the Brâhmañas Stories of religious persecutions are no doubt met with in the literature of rival faiths We do not deny that at times and at places, there were strong feelings against a particular faith there might have been local and temporary persecutions But we believe, the stories of persecutions which we meet with in the religious literature of India are mostly exaggerated Generally speaking, there was no serious quarrel among the three faiths in India Ethics and moral practices were the same among them The theory of Karma and the faith in re-incarnation were common The gods, Indra etc., were admitted by all of them and the social structure also was very probably not seriously interfered with by any of the so called protestant faiths Under the circums

tances, religious toleration, perfect amity abetween the faiths may be expected to have been the rule in ancient India. Religious persecutions, if, there were any at all in the accepted sense of the term,—were only local and temporary. This is perhaps the reason why even at the later times i.e., after the 6th century B C, when the three faiths of India began to flourish on independent lines,—we find the self-same kings acknowledged as the upholders of the rival faiths. King Bimbisāra, for instance, is nowhere represented as the supporter of any non-Vēdic faith in the Vēdic literature. Buddhist literature, on the contrary, shows that he was the pillar of Buddhism. In the Jaina literature, again, it is distinctly said that without Śreñika,—the Jaina name of Bimbisāra,—Jainism could not have been a flourishing faith. In the case of Chandra-gupta, Brāhmañic literature does not repudiate him as a renegade. The Buddhist literature speaks of the Buddhist Mōriya Chandra-gupta, while in Jainism the place of king Chandra gupta as a Jaina saint is very high. Emperor Aśōka similarly is claimed by each of the three faiths. Emperor Vikramāditya who defeated the Scythian hordes, is claimed by both the Brāhmañic and the Jaina people. About the Emperor Harsha-varddhana, who is described as the most glorious Buddhist monarch of the day, it is also said that he honoured the Brāhmañas and used to carry on ceremonial occasions the images of Śiva and Vishñu publicly The Pāla kings of Bengal were of a similar religious frame of mind. All these and similar anecdotes go to show that religious animosity was a rare exception in India, even at later times when Jainism, Buddhism and Brāhmañism came to be recognised as distinct faiths.

There remains only one point to be considered in connection with the Rāma-Story. Does the story represent any real historical fact? Some thinkers, both ancient and modern, contend that the Rāma-Story has only an esoteric philosophical significance. It has no basis in real facts but only shows how the human soul,—Sītā (the offspring of the earth) or Sītā, the Śakti or the creative power,—is estranged from and re-united with Rāma (the absolute Soul, the paramount reality). We are unable, we confess, to admit the soundness of this position One may read an allegory or esoteric significance into any system of facts but that is no reason why the

facts themselves should be held to be unreal It may not be impossible to foist an alligorical interpretation on the Rama Story but the question is whether this is what the authors of the Ramayaña intended First of all, there is the unbroken tradition about the truth of the Rama Story There are ruling princes even now in India who claim to have descended from Rama himself All places connected with the Rama Story are geographically real and well known There is no inherent improbability of the facts of the Rāmāyaña Under the circumstances one would not be unjustified in holding that the Rama Story has atleast a core of historical truth

The story of the Rāmāyaña, appearing in the Jaina Purāñas points to the same conclusion Rāma is the Para Brahman, Sitā is his Māyā or Sakti or Jivātmā; and the story of the Rāmāyaña may be interpreted as the Lila of the All Highest. This may be in consonance with the principles of the histic Vedānta philosophy But Jainism is opposed to the Vedānta philosophy on important points There is no reason why Jainism would choose to glorify the Rāma Story, if it were nothing more than an allegorical discription of Vedāntic principles Thus the very fact that the Jainas have respectfully embodied the Rāma story in their sacred lore is almost a proof conclusive that it is more than philosophical speculation in symbolic garb and that it may have a historical basis

The appearance of the Rāma Story in the Buddhist literature is another fact corroborating what we have said above We admit that in Buddhist hands, the story has been changed almost beyond recognition We are told, for instance by the Buddhist that Sitā was Rāma's sister Still, the substance of the Rāma Story given by Valmiki, is there The fact of Rāma being the prince of Ayōdhyā and Sīta his consort, that of his exile and Sīta's abduction, that of Sita's recovery and Rāma's ascending the throne of Ayōdhyā are found in the Buddhist version also Had the Rāma Story been nothing more than a penniworth of the Vedānta philosophy, so to say, how could we expect to find it with those substantial details in the literature of the Buddhist who are antagonist to the doctrine of the Jivātmā and the Paramātmā ?

For essentially the same reasons as above, we are unable to subscribe to R C Dutt's theory that the Rāmāyaña is but an elaborate

and highly rhetorical expression in an epic poetry, of the Vēdic legend of the Rain-god, Indra, delivering the bows (Rain-clouds) from Vritra who had stolen them. We may point out, *inter alia*, that Buddhism and Jainism repudiated and broke away from the Vēdās and that consequently, if we find the Rāma Story in the Buddhist and the Jaina leterature, it would certainly not be for the reason that the Rāma-Story was a symbolical representation of a Vēdic legend !

It is thus that the description of the Rāma-story in the Jaina literature helps us to arrive at important conclusions regarding many debated points of Indian history. Take, for instance, the curious theory, propounded of late, that the incident of the Mahābhārata are earlier than those of the Rāmāyaña We need not enter into the details of the arguments in support of that theory nor the ground on which it is stoutly controverted. It may simply be pointed out here that the sacred literature of the Jainas unambiguously support the Brāhmañic literature and traditions in holding that the exploits of Rāma were much earlier than those of the Kurū-Pāñdavas. There is no reason why the recorded testimony of the whole Brāhmañic literature regarding the priority of Rāma to the Pāñdavas should be disbelieved; it is not always safe to brush aside the unbroken tradition like that of the Brāhmañic, to the effect that the events of the Rāmāyaña preceded those of the Mahābhārata. When, however, we find the literature of Jainism,—a rival faith, not always friendly with Brāhmañism,—supporting the current traditional doctrine that the incidents of the Mahābhārata were subsequent to those of the Rāmāyaña, we may definitely say that the modern theory to the contrary, sensational as it is, is against the weight of evidence and such, is not to be seriously taken

II

Like the elegant Rāma-story, the Krishña-story also has inspired the hearts of millions in India from the remotest past. The mystic devotee is lost in ecstacy in the contemplation of Krishña as the amorous youth of Brindāvana and the philosopher find in the Krishña of Kurukshītra the wisest of teachers, while to the man of world, he is the bravest of fighters, the shrewdest of politicians and

the foremost upholder of a righteous cause It is no wonder that his life story, acts and exploits have been the perennial source of the sweetest poetry in India and the saying "There is no song but that about Kāñu (Krisnña)' is literally true

As in the case of the Rāmāyaña the Jainas also have a version of the Krishña-story Krishña according to them, was the ninth Nārāyaña and Balabhadra, his elder brother, similarly, the ninth and the last of the Balabhadras Jarāsandha the king of Magadha was the Prati-Nārāyaña or the born antagonist of the Krishña Nārâyaña of that age

The Krishña story, as we find it in the Jaina literature, is not different from the story in the Vēdic Purānas in essential particulars According to the Jainas also Krishña was the son of Basudēva a prince of the Yâdava clan, by his wife Dēvakī and Balabhadra by Rōhiṇī, another wife of Basudēva Kamsa, who was the son of king Ugrasēna of Mathurā and brother of Dēvakī, deposed his father and himself ascended the throne He, however came to have the fore knowledge that he would meet his death at the hands of Dēvakī's son This led him to keep both Dēvakī and Basudēva confined in Mathurā Dēvakī gave birth to several children one after the other, all of whom were snatched away by the cruel Kamsa for killing them The last was Krishña who was secretly taken by Basudēva to Brindāvana and made over to Nanda Krishña was brought up at Brindāvana among cowherd boys where he was joined by his elder brother Kamsa, however came to know that his mortal enemy was coming of age in Brindāvana and sent many of his demoniac emissaries there to kill Krishña but all in vain At last, Krishña came to Mathurā, killed Kamsa and re-instated Ugrasēna Jarāsandha, king of Magadha was infuriated at the slaying of Kamsa He became the enemy of Krishña but at last met his death Krishña removed to Dvārakā, was a great hero and ruled a prosperous kingdom from Dvārakā The great Pāñdavas were his friend and kinsmen He had eight principal queens, Rukmiṇī, Satyabhāmā etc Rukmiṇī had been enamoured of him and so Krishña went to her place secretly and carried her away and married her against the wishes of her brother, Rukmiṇī who had decided to give her in marriage to Sisupāla of Chēdi Krishña's sons, Sāmba, Pradyumna etc were also brave princes The Yādavas

however, gave offence to a holy man, for which they met disastrous deaths and their metropolis was destroyed. Krishña was killed by a hunter, through mistake.

As in the case of the Rāma story, the Jainas make various interesting additions,—some alterations too,—in the Krishña-story. The first of these additions is the account of the Yadu clan which they give Instead of describing Yadu as a son of Yayāti, a king of the lunar dynasty, as according to the Vēdic Purānas, the Jaina sacred books state that there was a ruling dynasty which traced its descent from one Hari. "The kings of the Hari dynasty ruled at Mathurā. There was a king named Yadu in this dynasty, after whom the Hari kings were also called the kings of the Yadu dynasty. Yadu's son was Śura who had Śauri and Suvira as his sons. Śauri gave his kingdom of Mathurā to Suvira and himself founded a kingdom at Śauryapore in the Kuśārta country. King Śauri had Andhaka-Vrishñi and others as his sons while Bhōja-Vrishñi and others were the sons of Suvira King Suvira gave his kingdom to prince Bhōja-Vrishñi and used to live in the city Sauvīrapore which he founded in the country of Sindhu Bhōja-Vrishñi had a son named Ugrasēna, whose son was the notorious Kamsa Audhaka-Vrishñi had ten sons viz, Samudra-Vijaya Akshōbhya, Stimita, Sagara, Himavān, Achala, Dharana, Pūrana. Abhichandra and Basudēva. Besides these sons, Audhaka Vrishñi had two daughters, Kunti and Madri who were respectively married to Pāñdu and Damaghōsha Krishña was the son of Basudēva by his wife, Dēvaki while Balabhadra was another son of Basudēva by his wife, Rōhini The sons of Pāndu were known as the Pāndavas while Śiśupāla was the son of Damaghōsha"

The romantic peregrinations of Basudēva form a long and interesting episode in the Krishna-story, as narrated in the Jaina Purānas. It is said that Basudēva was an extremely beautiful prince, so much so, that any lady happening to look at him was sure to be enamoured of him. To keep the chastity of ladies unsullied became thus a serious problem for the Yādavas and the citizens and they represented the matter before king Samudra-Vijaya. King Samudra-Vijaya was fond of his brother, Basudēva and so, instead of doing any thing which might hurt the feelings of the prince, he asked

Basudēva not to stir out of his house but master the fine arts The unsuspecting Basudēva gladly agreed 'One day, however, a maid-servant of the palace told him the real reason of his virtual confinement, upon which Basudēva fled from the palace in disguise At the outskirt of the city, he made a funeral pyre and burnt a dead body there He left there writings to show that Basudēva grieved at heart, committed suicide The Yadavas believed what the writings showed while really Basudeva wandered in distant lands *incognito* It is impossible to describe here all the places which Basudēva visited and the damsels he married It will be sufficient to state that towards the close of his peregrinations he visited the city of King Rudhira, where all the renowned princes of India including Samudra Vijaya and Jarā Sandha were assembled in order to have their chance in the Svavamvara (the selection of a husband) ceremony of Rōhini, the daughter of the king Rudhira Basudēva attended the assembly, disguised as a drummer It so happened however, that the choice of the princess fell upon the humble drummer At once the assembled princes raised a clamour and gave out that they would not tolerate a Kshatriya princess being given in marriage to a low class non descript A battle ensued in which king Samudra Vijaya took the lead at the instance of Jarāsandha Soon, however, Basudēva made himself known to Samudra Vijaya whereupon the two brothers were united again and the battle ended in merry making in which Jarāsandha himself joined Balabhadra the elder brother of Krishna was the son of Basudēva by Rohini

Another wife of Basudeva was Dēvaki She was the daughter of Kamsa s uncle According to the Jaina Purānas, Kamsa was devoted to Basudēva and it was at Kamsa s earnest desire, will and effort that Basudēva was married to Dēvaki Krishna was Basudēvas son by Dēvaki

The Jaina account of Kamsa s life and character may be stated in this connection Kamsa was one of the sons of king Ugrasēna of Mathurā His mother was Dhārini When he was in his mother s womb, his cruel and blood thirsty character was indicated by many of the uncommon longings of the queen one of which was her uncontrolable wish to eat the flesh of her husband So when the

child was born, the queen thought it fit to put it in a small box with the names of the king and the queen written in a script within it and to let it float away in a river. It was given out that the queen gave birth to a dead child. It so happened that a merchant had no child so that when he saw the box in the river and looked at its contents, he carried the child to his wife. The merchant and his wife brought up the child with great care and fondness. But the boy grew to be very mischievous and every one dreaded him When he came of age, he was given over to prince Basudēva as one of his attendants. Both Basudeva and Kamsa loved each other dearly and with the former, the latter learnt the arts of warfare.

King Jarāsandha of Magadha was acknowledged to be the foremost of the ruling chiefs of those days and his wish or order was not to be disobeyed on any account. One day he sent an order to king Samudra-Vijaya to bring to him king Simha-ratha of Simhapura bound hand-and-foot. King Jarasandha declared at the same time that whoever would succeed in complying with his order would get the hands of his daughter, Jivad-yaśā together with any kingdom he would pray for. King Simha-ratha was a mighty monarch but king Jarāsandha also was by no means to be displeased. King Samudra-Vijaya accordingly prepared for a war on Simha-ratha, when Basudēva implored him for being permitted to lead the invasion. King Samudra-vijaya granted his prayer and Basudēva marched against Simharatha with Kamsa. A great battle ensued in which Simha ratha was defeated and Kamsa took the lead in binding him hand-and-foot. King Jarāsandha was satisfied but Samudra-vijaya did not like that his brother would marry Jīvad-yaśā because he had heard of a prediction that that princess would be the cause of ruin of both her husband's and her father's families. Kamsa, ont he other hand, was known to have come of a comparatively low-caste merchant family, so that an offer of marriage of the princess of Magadha with Kamsa would but greatly irritate Jarāsandha. At this juncture, the reputed merchant-father of Kamsa appeared with the script and on a reference to queen Dhārinī of Mathurā, it was established that Kamsa belonged to the respected clan of the Yādavas. King Jarāsandha gladly gave his daughter in marriage to him. Kamsa, however, burnt with rage against his parents, when he came to know

his real origin He asked for help against king Ugrasēna which was readily given by the mighty Jarāsandha With the help of the army of Magadha, Kamsa defeated his father, kept him confined in a cage and himself became the the king of Mathurā He did not forget his friend and master, prince. Basudēva so, it was at his instance that Basudēva was married to the princess, Dēvakī who was the daughter of his uncle.

A great banquet took place at the marriage of Basudēva with Dēvakī and every one was making merry Kamsa s wife, queen Jīvad yaśā drank too much wine Intoxicated she came across Atimuktaka who was one of the sons of the ex king Ugra sēna and who had taken to the religious orders, being disgusted with the ways of the world Jīvad yasā asked her cousin in law to join in the revelries importunately where upon the sage uttered the imprecation that Kamsa would die at the hands of one of the offspring of the very marital union which she was thus shamelessly celebrating in wine. When Jīvad yasā came to her senses, she told Kamsa what had happened Kamsa was frightened So without telling Basudēva the real fact, he simply requested him to hand over to him the children, as soon as they would be born to him The unsuspecting Basudēva agreed to it. Afterwards when he came to know the real facts, his grief knew no bounds

Dēvakī gave birth to six sons one after the other It is said that at the very times when these sons were born Sulasā, wife of the merchant Nāga of Mahilā pura nagara gave birth to six dead children At the instance of a god of the heavens, the sons of Dēvakī were taken to and kept with Sulasā whose dead children were in a similar manner taken to and kept with Dēvakī The cruel Kamsa took away the dead children thinking them to be Dēvakī s and smashed them on a stone. Dēvakī s real children were thus saved and not killed,—as according to the Vēdic Purānas

The Jaina Purānas state that Krishna was the seventh child of Dēvakī. Krishna was stealthily taken to Yasōdā, wife of Nanda of Gōkula and Yasōda's daughter was handed over to Kamsa Kamsa, however, did not attempt to kill the female child as described in the Vēdic Purānas. He thought that the prediction was false, in as

much as it had been predicted that a male child of Dēvakī, the seventh in order, would be his distroyer,—and not a daughter. He returned the female child to Dēvakī.

Krishna's killing of Putana and emissaries of Kamsa and his amorous dealings with the beautiful milkmaids of Gókula are also described in the Jaina sacred books. The Jaina account of killing Kamsa and re-installing Ugrasēna as the king of Mathura is substantially similar to that in the Vēdic Purānas. It is to be noticed, however, that according to the Jainas, Satyabhāmā was a sister of Kamsa. She became enamoured of Krishna and was the first princess to be married to him upon the accession of Ugrasēna.

We pass by the numerous beautiful stories which the Jainas connect with the marriages of Krishna with Rukminī, Lakshanā and his other wives The addition which the Jainas make to the Krishna-Story is the account of their twenty-second Tīrthamkara, Arishtanēmi, which has already been noticed.

The more important and perhaps of greater interest is the account of the great tragic battle of India which the Jainas give and which is not a little different from the well-known version of the Mahabhārata. According to the latter. it was a great fight that took place at Kurukshitra between the Kouravas on the one side and the Pāndavas on the other and the cause of it was the systematic attempts on the part of the Kouravas to deprive the Pāndavas of their just possessions. The Jainas admit that in that great battle the Kouravas and the Pāndavas fought on opposite sides but they say that it was not primarily a contest between the Kouravas and the Pāndavas. Their account of the battle is as follow.—Kansa's widow, Jīvad-yaśā, on the sad end of her husband went to her father, Jarāsandha, king of Magadha, who was the most powerful of the rulers of the day and instigated him against Krishnā and the Yādavas The Yādavas, led by Krishna found Dvāraka and ruled over an extensive territory. Jarāsandha marched against Krishna. He had a great army and on his side, among others, was Śiśupāla, king of Chēdi, a sworn enemy of Krishna. The Kouravas also were on his side. Krishna and the Yādavas were similarly joined by a host of kings, among whom there were the Pāndavas. The great

battle that ensued was thus primarily a battle between Jarāsandha and Krishna, in which Jarāsandha was killed,—not by one of the Pāndavas but by Krishna himself

The Jaina account of the end of Krishna, the Yādavas and their metropolis is also different from what is narrated in the Vēdic Purānas, although scarcely less tragic We prefer to describe the Jaina version by extensevely quoting from 'Lord Arishtanēmi

Every one was startled to hear from the Lord (Lord Arishtanēmi) that Dvaipāyana would destroy Dvārakā and Krishna was to die at the hands of Jarākumāra (a son of Basudēva and step brother of Krishna) Lest wine would be the cause of ruin of Dvārakā, Krishna stopped its drink in his kingdom At his order the people of Dvārakā went out and poured all the wine they had in a cave called Kādambarī in the Kadamba forest near the Girinara mountain Hearing of the dreadful prediction of the Lord Nēmi the sage Dvaipāyana left the city of the Yādavas and in order that he might not injure it in any way immersed himself in profound contemplation in a distant lonely forest

'And being a son of Basudēva how shall I kill my own brother? This shall not be Rather shall I take care that none can touch a hair in Krishna's head Determined thus, Jarākumāra roamed outside the limits of Dvārakā armed to the teeth and ready to die for its safety

'But the prophecy of Nēminātha was not to be false"

'*One day, troubled by the scorching rays of the Baiśakha sun*, a companion of the prince Śāmba came near the Kādambarī cave, while wandering in the forest He was extremely thirsty and consequently drank the wine there to his heart's content The immense quantity of wine —that had been at Dvāraka and poured out there —became extremely delicious to taste on account of its being kept confined within the stony cave in a cool forest the season *flowers of the forest fell* into it and enhanced its sweet taste and smell quite a thousand fold To please his Lord Sāmba that attendant of his, secretly brought some quantity of the wine for his master (To be Continued)

We intend to approach this subject from an altogether different point of view which has not as yet, attracted the attention of the *eastern or western scholars*

In ancient days writing was scarcely used for spreading and preserving knowledge The sages of old used to commit to memory the then existing knowledge and send it down to posterity by oral teaching from—preceptor to disciple It was from Kundakundāchārya that a systematic attempt appears to have been made to preserve knowledge by reducing the same to writing Āchārya Kundakunda says —

मग्गो मग्गफलं तिह दुविह जिणसासणे समक्खादो ।
मग्गो मोक्खउवाओ तस्स फल होइ निव्वाणम् ॥

Maggo Maggaphalm tiha duirham Jinasāsne Samakkhādo
Maggo mokkha uvāo tassa phalam hoi Nivvānam

Meaning —Magga (way) and Maggaphal—(fruit of the way) are the two things mentioned in Jainism Magga means a remedy for liberation and its fruit is complete contentment.

In the commentary below of the above Prakrit verse the commentator says —

मार्गस्तावत् रत्नत्रयात्मक

Mārgastavāt ratnatrayātmakah

Meaning —Mārga however consists of three jewels i e Samyak *darshan Samyakgñyan and Samyaga charitrya Jainism is the religion* of the three jewels This means that the author of Niyamsāra calls Jainism as 'mārga After āchārya Kunda Kunda flourished āchārya Umāswati who in his book 'Tatwarth Sutra, gives the first Sutra as (सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणिमोक्षमार्गः ।) 'Samyagdarshana gnyāna Charitrani Mokshamārgah Here also the word Mārga has been used in the sense of religion It will be marked that the word *Dharma'* has *nowhere* been used *in Tatwārth Sutra in* the sense of 'religion This book uses the word 'dharma to denote one of the six primordial substances which this world is composed of Later on, the word Magga or Mārga fell out of u e and in its place the word dharma came to be used in later literature

Having thus firmly kept in mind that the ancient name of Jainism wa *Mārga* we shall proceed further

When the sister and neighbouring communities realise that the tenets of a rising faith possess elements which would—secure communal good or enlighten the powers of the soul if adopted and practised they begin to adopt and incorporate into their lives the tenets, requisite methods of behaviour, rites and religious practices introduced by the rising faith and those methods gradually came to be named after the faith from which they were adopted. In ancient times the humanity was most disordered and promiscuous in sexual and other relations between man and man, and man and woman It is the leaders of the Jain thoughts who were the first to introduce into the society a well-controlled and balanced marriage system. The conception of brotherhood of man arose out of the teaching of Jainism and the 'Anagāra Dharma' of Lord Rishabhadeva was its climax In order to illustrate the above contentions by concrete examples I am proposing to enumerate below certain facts of importance. Before those facts are given however it would be abvisable to bear in mind the following propositions of historical and geographical importance.

(1) The time about which we are writing is very ancient and we cannot ascertain its date at present.

(2) In ancient times humanity lived in small groups The people were not known by the country of their occupation as at present but the countries were known by the tribes which populated the same whenever unfavourable circumstances made it impossible for a tribe to continue to inhabit the country the whole tribe used to move out of that country.

(3) The small tribes in which the people were divided were constantly on enmical terms with one another This enmity and exclusiveness developed in them specialities of behaviour, dress, likings etc. with a result that each tribe looked quite distinct from the rest For instance Nāga tribes distinguished themselves by using a head dress which resembled the hood of a cobra.

(4) The phonetic and other similarities between languages current in Baluchistan and those spoken in Karnāṭaka have led Linguists to come to the conclusion that the people of Baluchistan and those of Karnātaka must have come from the same stock. It

appears from their opinion that owing to some unforseen circumstances the Dravidians of the province of Karnāṭaka must have come down to the south from their original home which must have been somewhere near the province of Baluchistan From this one can imagine that in ancient times about which we are writing these Dravidians must have been living in a province from which they could not escape the touch of the teachings of the followers of the '*Marga* religion

With these suggestions we shall proceed further —

The word 'Magga (Sanskrit Mārgā) appears to have been in use in several countries of the Asiatic continent But while being incorporated in other languages it has gone through the various influences of those languages In Persian language we find the word 'Maga used in the sense of a priest In canarese also the word is used Monk (Christian Catholic priest) and Manga are its two different forms The Saraswat Brahmanas of India name their god of worship as Mangesha (मगेश) and consider him to be an incarnation of God Shiva The Burmans use the word Mamga (मॉग) in the sense of brother Makalā (मकला) in dravidian language means children It may be argued by some that this attempt is like building castles in the air taking advantage of some similarities of names of various languages But the further explanations would show that it is not so

In Persia or Shak continent the Magas formed an important section of the people They were the worshippers of the Sun and has three classes among them (1) those born of fire (2) Samakas born of Soma and (3) Bhojakas i.e those born of Aditya (Sun God)

अग्निजाता मगा प्रोक्ता ।
सोमजाता द्विजातय ॥
भोजका आदित्यजाता ।
न्व्यास्तेपरिकीर्तिता ॥

भाविष्यपुराण वाहपर्व अ० १३६

शिरसाधारयेत्केशान् सज्ञेयो भोजकान्मम । -
भुन्ते न च ये रात्रौ भोनकास्ते प्रियामम ॥
Agnijāta Magah proktāh
Somajāta dujātayah

Bhojakā Ādityajātāh
Divyāste parikīrtitāh
Bhavishya Purāṇa Bāhyaparva part 136.
Shirasā Dhārayet Keshān sa jñyego Bhojakādhamah
Bhunjante na cha ye ratrau Bhojakāste priyā mama.

Meaning:—'Magas are those who are born of fire There are others—Brāhmans who are born af soma. Bhojakas are born of the Sun they are famed as celestial'.

'That Bhojaka is the worst who allows the hair on his head to grow. Those Bhojakas who do not dine at night are dear to me.'

We learn from Bhavishya Purāna that Bhojakas and Magas were one, that they had the practice like Jain saints of shaving the head completely and not taking food at night and that they carried in their hands a brush like the Jain saints. Thus they had adopted some of the practices of the Jain saints and as they bore respect towards the 'magga' relegion they were called 'Magas'.

It has been remarked above that marriage system was originally introduced by the Jain thinkers The Dravidians appear to have adopted the sacred ceremony of marriage from the 'magga' people. This is testified by the fact that the son born of marriage wedlock is called 'Maga' (मग) in kanarise language. While a male offspring born in any other way is termed as 'huduga' (हुडुगा) which means an orphan

Manga or Mangesha (मगेश)—The Saraswat Brahmanas call their deity of worship as 'Mangesha' (मगेश) which is considered by them as an incarnation of God Shiva But on closer observation it will be found that the image of God Mangesha is not an artificial image but a naturally grown stone slab which is ornamented by them on ceremonial occasions with an artificial face of God Shiva This conception of the deity of the Saraswat Brahmanas appears to have been based on an idea which looks similar to the idea of Akritrima Jina Chaity (अकृत्रिम जिन चैत्य) of the Jainas

Moghal and Mongolia—The Mongols or Moghals are the people of Mongolia. The Sanskrit form of Mongolia would be Mangalavati and would mean 'a country of purity or brotherhood'. These names appear to have been given to those people and their country owing

to their acceptance of many rites and ceremonies of the 'Magga people

Mūkala (माकल) – Even at present there is an advanced community in the Dravidian province which is known as 'Mākala It has been shown by rules governing languages that the word Mākala is derived from the Sanskrit word 'Markala or Marathi 'Makada' In the Rāmāyana of Valmiki there appears a community which is described as Markata which according to that Rāmāyana was monkey like But on modern research it has been found that these markatas were not monkeys but human beings The Jain Rāmāyana says that they were like ordinary men and followed Jainism

Mongi Tungi—According to the Jaina tradition Shri Rāmchandra Sugriva and thousands of others attained liberation on the mount of Mongi Tungi after going through the austerities prescribed by the Jaina faith Why should the mount be called Mongi Tungi is a question which cannot be solved unless the following explanation is accepted The word 'Mongi means sacred or belonging to the sacred religion 'Magga and Tungi means a mount or mountain Thus the joint word Mongi Tungi would mean 'a sacred mount of the Jainas This is according to this writer, a strong proof that Jainism was known as 'Mārga at least up to the time of Shri Rāmachandra the hero of Rāmāyana

The above points are sufficients, according to this writer, to hold that 'Marga was the name by which Jainism was pre-eminently known until at least the time of Shri Rāmachandra that the Persians of Iran the Dravidians, Mongolians and the Burmans were at that time inhabiting terretories not far off from the country in which the Magga (Marga) religion stood shining in full splendour that they accepted and incorporated among them much of the learning by studying in Marga seals of education and that they or important sections of those people came to be styled and named after the civilization which imparted education to them

---

ASTINASTI VADA.

This doctrine of Astināsti Vāda may be considered to be the central idea of Jaina metaphysics. Unfortunately, it is also the view which is very often misunderstood by the non-Jaina writers. The non-Jain thinkers cannot easily appreciate how it is possible to predicate two contradictory attributes to the same object of reality. Prima facie it is impossible. You cannot say about the same object of nature that it is and that it is not. Naturally it is extremely confusing and the non-Jaina thinkers very often consider this doctrine to be the weakest point in Jaina metaphysics. Even great thinkers like Śankara and Rāmānujā without appreciating the true significance of this principle condemn this as merely prattling of a mad man. Hence it is necessary for every student of Jainism to explain this principle clearly and make it within the reach of the ordinary man's understanding

Astināsti Vāda implies the predication of contradictory attributes of Asti and Nāsti, 'is' and 'is not' to the same object of reality Jaina thinkers certainly did not make the statement that the same object can be described in terms of two contradictory attributes without any limitation What the Jaina doctrine of Astinasti Vada implies is that you can describe an object from one point of view that it is, exists, and from another point of view that it does not exist. It is certainly paradoxical to speak of the same thing from a single point of view that the object is both 'is' and 'is not'. Jaina thinkers take a practical point of view even in explaining intricate principles of metaphysics. Take the case of a piece of furniture. It may be made of ordinary jungle wood and it may be given painting to make it appear as if it is made of rose wood. Naturally a purchaser who wants to know the price of that piece of furniture would like to know the exact timber which is made use of in making that piece of furniture. If he depends upon the mere appearance he would have to pay more than what it is worth. Therefore, he may naturally enquire somebody who knows these things to find out whether the piece of furniture is made of rose wood. The expert's answer would

certainly be 'no' The piece of furniture is not made of rose wood in spite of its appearance. The appearance is due to painting whose object is merely to hide the real nature of the timber utilised Hence he would assert that the table is not made of rose wood If the expert by scraping the paint in a small corner of the furniture in order to expose tha true nature of the wood employed then it will be made evident that the timber used for making the furniture is some jungle wood of an inferior type Then the purchaser will learn from the expert the exact answer to his question, 'What is the timber of which this piece of furniture is made? The answer to the question would be an affirmative proposition stating that the table is made of jungle timber Thus, two propositions, one an affirmative and another negative are asserted with reference to the same piece of furniture and both propositions are certainly valid With reference to the true nature of the timber utilised for making the table the statement that it is made of jungle wood is a valid affirmative proposition When we want to make a proposition from the mere appearance whether it is made of rose wood, the valid answer is a negative proposition it is not made of rese wood Thus the negative proposition arises when the object is related to another nature which is not its true nature The true substance is jungle wood and another substance with reference to which the negative proposition is made is rose wood This point is explained by Jaina thinkers in a technical way

Self and Alien —

In the case of the two contradictory propositions the affirmative proposition is valid with reference to 'Svadravya', its own substance, the negative proposition is valid with reference to 'Paradravya, the alien substance The illustration may be multiplied If we have an ornament made of pure gold and the question is asked what is the nature of the substance, the valid answer would be it is made of gold But, if the similar ornament is made of imitation gold the answer would be 'No, it is not made of gold. Here also the object from its own 'Svadravya' point of view would be described by an affirmative proposition, from the 'Paradravya point of view by a negative proposition. Similarly, if you are interested in finding out whether your cow is in the cattle shed and if you ask your servant

"Where is the cow?" his answer would be affirmative if the cow is in the cattle shed and negative proposition if it is not so, he will simply say, "The cow is not in the cattle shed." If it is taken away by the cow-boy for the purpose of grazing in the field the negative proposition will be true with reference to the cattle shed, but if the question is whether the cow is in the grazing field the answer would be affirmative, just because the cow is grazing in the field and it is not tied up in the cattle shed. You may have similar illustrations with reference to any object. If you want to find where a particular book of yours is and if it is not found in the book-shelf, we have to assert the book is not in the book-shelf. If it is there you will say, 'Yes, it is'

Place:—

Historical propositions will have true validity according to their relation to the place. If you say that Socrates was an Athenian Philosopher, the affirmative proposition will be true, because the historical Philosopher Socrates lived in Athens. But, if some student writes that Socrates was a Roman Philospher, the proposition would be erroneous, because Socrates was never connected with the city of Rome. In this respect the technical term is used 'Kshetra'. A proposition with reference to a particular object of reality is true from the point of view of Swakshetra its own locality or place of existence, and the negative proposition is valid from the point of view of Parakshetra, the alien place or locality in relation to the object. In the above example, Athens is the Svakshetra of Socrates and Rome is Parakshetra

Time:—

Similarly, in relation to time it is possible to make two contradictory predications with reference to the same object of reality. A historical event would be true with reference to its own appropriate time in the period of history and false with reference to some other time. If somebody makes a statement that Charles I was King of England in the 19th century, it would be historically false. Charles I did not belong to the 19th century Similarly, if somebody speaks of Socrates as a Philosopher who lived in Greece in the 4th century after Christ, it would be a false statement He did not live in the 4th century A D. would be a valid negative proposition, just

as the affirmative proposition that he lived in the 4th century B C would be a valid affirmative proposition Here the point of view is technically said to be 'time Any historical event would be capable of affirmative assertion *with reference to its own time* or Svakāla and it would admit of negative assertion with reference to Parakāla or alien time, not its own

Form —

Similarly, in the case of the modification of a substance, according to its modification it may be asserted affirmatively or negatively Speaking of water you may have it as a liquid or solid Ice is the solid form of water and if you are interested in knowing the nature of ice you have to assert that it is solid from its own Bhāva But, if it is heated it changes its form it may become liquid Then you have to say that ice is not liquid or gas From its own Bhāva a substance is capable of being described by an affirmative proposition from the nature of an alien form or Bhava it must be described by a valid negative proposition You must say that ice is not liquid or gas or vapour because the form in which you are concerned with is solid

Interpretation —

These are the four points of view which form the foundation of this 'Astināsti Vāda and these are the ways in which an object may be affirmatively described from the point of view of Svadravya Svakshetra, Svakāla and Svabhāva, and the same object may be validly described in the negative from the point of view of Paradravya, Parakshetra, Parakāla and Parabhāva When the matter is understood in this way it is quite obvious why the affirmative proposition will be true and why the negative proposition also will be true with reference to the same object of reality There is no chance of confusion here and there is no mysterious meta physical maze to be unravelled Simply we may say that it is so common place that we very often wonder why serious thinkers should find it difficult to appreciate this principle of Astināsti Vāda Here we have to point out that the doctrine is applicable only with reference to a real object Take the following example A cow ordinarily has horns - The cow, when it was an young calf, cer

tainly should not be described to have had horns. There would be no horns in the head of a young calf. Therefore, with reference to the same individual animal we have to say that at one time it had no horns and later on it had horns. The existence of horns is asserted and denied with reference to the same individual, according to its life history. The calf in its own time had no horns. The cow when it is grown up, the horns are asserted to exist, because you can assert the horns and deny horns, the existence of horns can be asserted and denied with reference to the same individual cow according to its period of growth. You cannot turn and say that the horns may be asserted and denied with reference to a horse or a hare. Very often it is a point of objection; such a dilemma is presented to the Jaina thinker since you can assert and deny the same thing. Can you assert the horns and deny horns with reference to the same horse or the same hare? The question proposed by the opponent is meaningless, Horns of a horse or a hare are non-existent and they cannot be considered as real. The doctrine of Astināsti Vāda is distinctly confined to the world of reality, only to an object in the world of reality. The doctrine should not be applied to non-existing things. A mythological animal like the centaur or unicorn cannot be brought under this doctrine of Astināsti Vāda Hence such an objection is rejected as irrelevant and meaningless by the Jaina thinkers.

Relative Qualities.—

Exactly analogous to this principle of Astināsti is the doctrine that the same object of reality may be described as 'Nitya' and 'Anitya', permanent and impermanent, Bheda and Abheda, identical and different. These predications which are contradictory in themselves are no doubt applied to the same object of reality certainly from different points of view. A thing may be described to be Nitya, permanent, from the point of view of the substance of which it is made. The same object may be described as Anitya, impermanent, if we attend to the modification of the shape to which the substance is transformed. A particular ornament made of gold may be melted and a new ornament made out of the gold. Here the particular ornament will certainly be described as Anitya because at any moment it may be changed by the goldsmith according to the

wish of the owner But neither the skill of the goldsmith nor the desire of the owner can altogether destroy the substance gold It is indestructible and permanent and therefore it must be described as Nitya Therefore, from the nature of the underlying substance the thing must be described as Nitya and from the point of view of the particular mode or shape it is given to, it must be described as Anitya Thu , the two attributes Nitya and Anitya can be intelligently predicated of the same object of reality as was shown above

Matter & Form —

This point of view will become much clearer when we attend to the nature of organic things the tree or an animal . The life history of a tree may be said to begin with the seed, and at every stage of its growth there is a corresponding change in its structure From the seed to the sprout from the sprout to a little plant, from the little plant to a growing tree and at every stage there is a change of structure and also change of function of the particutar parts Here you have an instance of continuous change in the same identical organism which must be considered to be unchanging and permanent A margosa seed can grow into a margosa tree marking out all the changes in its growth but at no point in its life history could it change so fundamentally as to become a mango tree A mango seed can grow into a mango tree and a margosa seed can grow into a margosa tree Each one has its own permanent nature marked by its different stages of growth which are distinctly impermanent Thus, if for example the margosa declines to grow further, will not shoot forth new sprouts, will not shed away the old leaves, it will be an attempt to secure permanency for that stage in the history of the plant but this attempt to secure permanency must end in death because a growing organism, if it attempts to crystallize itself at that particular stage it will only seek its own death warrant Thus organic growth must necessarily imply change at every stage different from the previous stage and different form the next stage and at the same time secure a permanent identity Nature cannot be transcended during the growth of the organism Here you have in the life history of an organic say a tree both identity and difference, Bheda and Abheda

Nitya and Anitya In fact, that is the nature of reality as understood by Jaina thinkers

Review:—

Every object of reality implies a difference with an underlying identity, a change associated with a permanency, a unity associated with multiplicity It is because of the structure of reality that it is possible for us to describe it by contradictory attributes, Asti and Nāsti, Nitya and Anitya, Bheda and Abeda and so on. This fundamental metaphysical doctrine which is the central idea of Jaina thought differenciates this system of philosophy from other schools of thought, Indian or European No Indian school of thought has accepted this doctrine. Every Indian school takes up one particular point of view of reality and asserts it to the exclusion of other aspects. Vedāntism, for example, emphasises the permanent substratum of reality, of the permanent substance, the Brahma It is always one unchanging Nitya At the opposite pole of thought you have the Buddhistic Kshanika Vāda which emphasises the momentary nature of reality and is blind to the underlying permanent sub stratum To the Buddhistic thinker every object of reality is Anitya, momentary. It appears and disappears the very next moment There is no such thing as Nitya or permanent sub-stratum either in the outer world of nature or in the inner world of consciousness. This kind of one-sided emphasis to the exclusion of the other aspect of reality is described by Jaina thinkers as Ekānta Vāda, one sided assertion, while they claim their metaphysics to be a Anekānta Vāda viewing reality from all its aspects. Thus, the Astināsti Vāda with which we began is the natural corrolary of the nature of reality which is many sided and hence could be described accurately and completely only by taking into conside ration all its aspects or technically by Anekānta logic. Forgetting this aspect of reality and attempting to describe the nature of reality piecemeal would end in a similar confusion as the description of an elephant by the various blind men each describing the animal from his own point of contact and thus making a ridiculous mess of reality.

Conclusion.—

In short, a complex nature of reality must be the necessary

approach by the principle of Anekānta Vada, if it is to be understood accurately Thus, we see the Jaina metaphysics has got a more rational view in its approach to reality than the other schools of thought which obstinately cling to one particular aspect The latter schools of thought create a readymade framework and attempt to squeezing the nature of reality in the readymade framework which serves as a sort of Procrustian bed and thinkers do not hesitate to chop the inconvenient corners to make reality fit in with their framework Such a method of unwarranted interference with the nature of reality to make it suit one's own theory is neither science nor philosophy It is merely a dogmatic assertion of one's own prejudice and wishing reality to squeeze into the readymade scheme of things It is not necessary for us to repeat that such an irrational attitude will be inconsistent with true principles of metaphysics The function of man is to understand the nature of reality not to interfere with its nature to suit his liking Judged from this point of view, the only school of thought which may be said to resemble the Jaina metaphysics is the Hegelian doctrine of the Dialectic Hegel's direct approach to the nature of reality is more or less analogous to the Jaina approach Hegel's Dialectic consisting of thesis, antithesis and synthesis which may be described as, identity of the opposites, or the resolution of the contradictories exactly correspond to the Jaina doctrine of Astināsti Vāda But in other respects Hegelian idealism is quite different from the Jaina metaphysics and hence we cannot afford to emphasise the similarity between the two schools beyond this one particular fact This method of philosophy, the method of philosophical approach must be adequate and suitable to the nature to reality, which is the object of study This general principle is observed to be true in the Jaina approach to the study of reality

*[Published by the kind permission of Varni Abhinandan Granth editor]

ACHRYA SAMANTABHADRA AND PATLIPUTRA.

[By—D G. Mahajan, Esqr, M.R A S , (London) Working President.
C. P & Berar Jain Research Institute, YEOTMAL]

The great Jain Acharya Samantabhadra's name has been associated with PATALIPUTRA and it has been a belief of the Scholars till late, that Acharya Samantabhadra had visited Patliputra named PATNA at present. This belief has a basis in the following rhyme in Sanskrit in the inscription :—

पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता।
पश्चान्मालवसिन्धुठक्कविषये कांचीपुरे वैदिशे ॥
प्राप्तोहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं।
वादार्थी विचराम्यहंन्नरपते शार्दूलविक्रीडितं ॥[1]

1. It is an inscription found at Sravanabelgola, a most famous holy place-Thirthakhetra of the Jain Religion since the Christan Era, in Mysore State, South India. This being the only one of its kind, naturally much importance is given to it. My learned friend Pandit Jugalkisor Mukatiyar[2] and others, on the strength of this inscription are led to belive, that Acharya Samantabhadra visited this Pataliputra-PATNA during the travel he made in the country of the then Bharatavarsha, as refered to in the above inscription

2 While on tour of South India, on the occassion of the Indian History Congress sessions held at Madras and Annamalai University in the years 1945 and 1946 respectively, the research in the Jain culture in the ages before, I came across a town called CUDDALORE, which was then known as Patliputra and hence a doubt arose in my mind to find out whether the reference to Patliputra in the above inscription as the place to which Acharya Samantabhadra visited is

---

1. Sravanabelgola inscription No. 54 old and 67 new. It is also called "Mallisen Prashasti" which was written in Sak Samvat 1050, i. e, 1100 century A. D.

2. "Atmamima nsa" page 4, refered in "Swami Samatbhadra" a Hindi book by Pandit Jugal Kisor Mukatiyar.

refered to this Pathputra, a new find or to other which is now known as Patna in Behar North India

3 For this one has to test the question from the following point of view —(A) Why should Acharya has gone to Pathputra in North India and whether it was a seat of learning and centre of religious activities then in his times? Whether at all the town was in a flourishing condition as it was a capital of the Magadha in that period? No doubt that Pataliputra was a flurishing city in the times of Chandragupta Maurya, as the capital of MAGADHA Empire it lost its importance after the overthrow of the Imperial thrown of Mauran Dynasty some times in second century B C (184 B C) when Pushyamitra and his son Agnimitra the founder of the Sunga Dynasty, occupied it invading Magadha and tremendous destruction has been suffered by the capital Pataliputra and Agnimitra took his capital to Vidisha in Malva, the modern Besanagar near Bhilsa in Gwalior State The other capital was Avanti Ujjain being at the other end of the Magadha Empire [3]

4 Again Pataliputra was invaded by King KHARAVEL of Kaling Desh and of Hatigumfa fame and complete destruction was made in the 1st century B C of the city of Pathputra, due to the severe blow at the hands of King Kharavel, when he invaded Magadha and made Agnimitra as his vassal Thus evidently it will be proved that Pataliputra was under complete destruction and never regained its importance and magnificience glory and grandeur for ever All these events took place before the Christian Era and since then there is nothing to the credit of Pataliputra to show that it had regained the same past days, up to the times of Acharya Samantabhadra, which means a very long and most considerable gap of time of nearly five hundred years or so (B) Whether it was a seat of learning at the time of the visit of Acharya? Samantabhadra s time is as far as fixed or supposed as Saka Samvat 60, i e. 138 A. D [4]

3 (a) Ancient India Vol No IV, pages 113 and 114 by Dr T L Shah
(b)

4 Mr Levis Rise in his Inscription at Sravanabelgola and preface to Karnatak Shabdanusasan Pattavali published in Bhandarkar Oriental Report 1883 84 page 320 and "Syami Samantbhadra" page 196 a Hindi Book by Pandit Jugal Kisor Mukatiyar

From the above discussion it is clear that as Pataliputra was under complete destruction, it cannot be a seat of learning and of importance in religious activities. Secondly why should Acharya go to Pataliputra at such length from the place in Tamilnadu when there were other more important places of learning, namely Kanchanpuram-Kanchi-Canjeeveram, Madura, etc, so near from place from which Acharya came in Tamil land, the ancient Thondayamandalam. In the time of Acharya, Urayur, Kanchi, Madura, Bhadalpur, and others were big centres of learning to fulfill his object and all were in South India, full of Jain Mathas-monastaries, temple Basties and Pallies, schools, etc of the Jain religion. It is also presumed that Acharya might have taken Dikshya and became MUNI at Kanchipuram or near about it as it appears from the later part of the said inscription[6] (C) Was Acharya in a position to undertake such a long and hazardous travel, when he was suffering from a deadly disease "Bhasmakavyadhi" and hence can not be said to have undertaken such a risky travel at the cost of life, a good for nothing. From the sequence of the text of the inscription it appears probable that Acharya might have visited Pataliputra of Sourthern India-Tamilnadu, which was very near to his birth place and Dikshyasthanam etc[7] This will be clear from following posibilities.

5. Pataliputra in Tamilnadu is made out as follows:—(A) In South India Kanchipuram or Kanchanapuram the present Canjeeveram, Madura, Urayur, Bhaddalpur, Pataliputra, Uragapur, etc were the great centres of learning, religion, activities and debates used to take place amongst Jains, Buddhists, Saivaits, and Vaisnwaits on religious subjects "Bhaddalpur" refered in other inscriptions and

---

5 "Swami Samatbhadra" page No 12 by Pandit Jugal Kisor Muktiyar

6 Sravanabelgola inscription No 54 old and 67 new as thus —

कांच्यां नग्नाटकोऽहं मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पांडुपिंड ।
पुंण्ड्रोड्रे शाक्यभिक्षुर्दशपुरनगरे मृष्टभोजी परिव्राट् ॥
वाराणस्यामभूवं शशिधरधवल. पांडुरांगस्तपस्वी ।
राजन् यस्यास्ति शक्तिः सवदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी ॥

7 Studies in South Indian Jainism page No 30

Prof. A F. Rudolf Hearnle-Indian Antiquity Vol XXI There father lattivalis of the Diga. bars pages 60 and 61

manuscripts was no other than Pataliputra or Pataliput, the ancient name in Tamil language was 'THIRUPADARIPULIYUR' the corrupt form of which is 'Thiruppapuliyur the present town of CUDDALORE, the headquarter of the South Arcot Dist. of the Madras Presidency.[8]

In my tour in the last January 46, I visited the town of Cuddalore and made survey of the most ancient sites of the old city of Pataliputra. The 'PETTAI' is the very ancient suberb of the town, nearly two miles away. There is a very old Jain idol nearly 4½ ft high in Padmasan posture, placed in the premises of a private person of Mandom Village, who celebrate the function supposing it the idol of Visnu. The idol is placed on a rai ed platform under a big tree. It is coated with dark coating due to the applying oil by the villagers at the time of worship. No animal sacrifice is made before the said idol, the identity of the idol having not known by them. From here a straight road goes to 'THRIAHINDRAPURAM a very ancient site, at the foot of a hill 100 ft in height on the bank of the river Gadilam. There are several ruins and relics of the old times, spread all over area of 12 15 miles of the old city of Pataliputra. There are ancient caves, temples, palaces, shrines, Mathas monastaries etc in ruins buried under earth and debries, showing their existence in the past by old pillars and stone out of the said ruins. The main temple of Visnu is also ancient and main shrine dates to the Pallav period and fine specimen of ancient artitecture is seen. The river Gadilam that flows on the North of Thiruppapuliyur at present used to run by the South of it in olden says along with the Eastern Ghat Valley and even today we can notice the bed of the river, which is very fertile land under cultivation at present. Visit to this place will quite convince a person that river was flowing on the South of the town in olden days. Some years before there was one Jain Idol in the premises of the temple but it is not found now. This idol was brought from the ruins in the part of the place.[9]

---

8 Prof A. F Rudolf Hornel Reports on the Archaeplogical Survey of India Vol No 1906-07

9 Epigrafica India Vol No 6 and Vol 331

5. The environment of THIRUVEDIPURAM, the most ancient spot Pataliputra, can be verified fully and satisfactorily on the strength of the Tamil works, [10] which deal with information regarding the existence of ancient Pataliputra, in the heart of the Tamil country, from the very beginning of the Christain Era to the period of King Mahendravarman I, who was converted from Jainism to Saiva Sect at the instance of Saint Appar, who himself was a convert from Jain religion The Visnu temple in Thiruvendipuram has a very lofty Gopuram and large Sabhamandapam, Garbhagraham, etc, about which it is said that Muni Vyagrapad worshipped Siva under the tree of "PADARI" or Padali or Patali and since then it got this name.

From Cuddalore the town of Panruti is nearly 15 miles away, which can be conveniently visited by railway train on main line. A straight road goes to THIRUVADIKAI, an ancient suberb of the city of Pataliputra, nearly 1½ mile from the town of Panruti. This is a small village now a days having a most ancient temple, which originally belonged to Jain Religion The temple is famous by the name "GUNADHAR ECCHARAM" which might have been worshipped by a great Jain Acharya GUNADHARA or GUNABHADRA; or the idol in the temple might have been installed by him, or the temple might have been built at his instance Besides it, can not give a sound interpretation by calling so. The temple is under utter ruins In the Mulagraham there is Siva Lingam of a very large size, made of black granite with shining polish and Shalunka the Yonipitham below it is very beautifully and artistically carved There is also a Visnu image in sabhamandapam nearly 5½ ft. high. The original Jain Tirthankar idol which was in the Mulagraham of the temple, on the main Vedisthanam, has been thrown away and placed just out side the temple, under the Neem tree by the side of-the main-road. The image is nearly 3½ ft. high in Padamasan posture. Its original pedastal and upper portion of the head and face has been damaged badly. There is no inscription and Lanchanam on the pedestal of the image, but from the artitecture it can be assigned to the Pallava time.[11]

10 Tamil "Periya Puranam", "Sthal Puranam", and "Thevaram Rhims".
11 South Arcot District Gazettier of the Madras Government.

At a distance of few furlongs there is a big temple named "VIRATESWARAM" It has a very lofty Gopuram in the rampart walls, inside there is a little tank and further there is main Temple of Sri Virateswaram In the compound premises there is one JAIN IMAGE in Padamasan posture without any Lanchanam and inscription on the pedestal nearly as large as the JAIN IMAGE of the "GUNADHAR VICCHARAM temple and of the same type but not mutilated or damaged or obliterated, but in good condition from all points of view This is the same temple where a famous saint Appar was converted from his original religion to Saiva Sect.[1] In fact this Appar who was Jain by birth became Jain Muni and was named as 'DHARMASENACHARYA, but he was very badly displeased with, due to the difference of opinion amongst the Jain Sangha, to whom he was leading as a head of it, while he was on the way to visit Jain Thirthakhetra holy place named 'THIRUNARUNKUNRAM or THIRUNARUNGONDAI' on the banks of the river Gadilam, only 40 miles from Pataliputra from where he had started He returned back from the middle of his way, to this Sri Virateswaram Temple and got converted himself and accepted the new sect Saivism Afterwards he converted the said Virateswaram temple which was originally Sri Mahavir temple This Jain Mahavir temple was in the Western part of the city of Pataliputra the then known and famous "THIRUPADRIPULIYUR—Thiruppapuliyur, which is now a days 25 miles away from the present town of Cuddalore on the main spot of ancient city of Pataliputra in the above mentioned small ancient suberb village THIRUVADIKAI or THIRUVADI, on the river Gadilam the same which flows at present too near Cuddalore and it must be noted that all above refered ancient suberbs are on the banks of the river GADILAM itself

In support of the above investigation of the old sites of ancient city of PATALIPUTRA let us examine some of the ancient Tamil and other works _ They throw light on the existence of the city of Pataliputra in Tamilnadu in the days of Acharya Samant Bhadra It is well known fact that the city of Kacchipuram was the capital of

12 Tamil 'PERIYA PURANAM and TEVARAM RHIMES sung by Tamil Saints

Pallava Kings, who ruled over the country of Thondaimandalam and the Telagu country upto the river Krishna. The country between two "PINARAS" was called THONDAYAMANDALAM or THONDAINADU. The Present North Arcot Dist of the Madras Presidency, was called the Sourthern "PINAR" and the part of the Nellore District and the Eastern Ghats were called the Southern "PINAR". This conntry was divided into so many "NADUS" and each "NADU" in many "KOTTAMS". This was the land which produced many great men and personalities, such as Pandits, Scholars, Munis, Yatis, Logicions, Philosophers, administraters. Naiyaiks, Vedantis and verious religions and sects that existed in the country.[13] Almost the whole Tamil literature is full of work of merit in literary field and civic life of the country—THONDAYA-MANDALAM and thus Kanchipuram was one of the big centre of learning in the north of the country, with PATALIPUTRA in the centre and Madura in the sourthern part of the TAMILANADU.[14]

It is quite clear from the Tamil works[15] that Pataliputra as was a very large and flurishing city, equally famous as the Pataliputra the capital of Magadha, in the times of Chandragupta Maurya. The city was spread far and wide, nearly 15 miles. This ancient Pataliputra is mostly described in almost all the Tamil works and literature as the city of "THIRUPADARIPULIYUR"—Thiruppa-puliyur. Now let us see how for Thiruppapuliyur means a city of Pataliputra. The city was called after a tree "PADARI" in Tamil, while Puliyur means a tiger village (i. e Puli-a tiger and Ur or Or-a place) Puliyur is the suffix given to those places-villages, towns, cities etc, where Muni Vyagrapad (Muni having a tiger like legs with lower body and above a human body) worshipped Siva Lingam under the tree "PADARI". The pecularity of this tree PADARI is said that it bears only flowers and no fruits, the leaves and flowers have got the value of disinfecting and hence it is used in Homas of the Saivaits, as combination of Vibhuties, i. e sacred ashes. The

---

13. Rao Bahadur Prof: A. Chakravarti, M. A. Madras,—his Historical Preface to "THIRUVALLUVAR KURAL" translated in English.

14, South Arcot District Gazettier of Madras Province

15 Tamil "Patalipur Puranam" manuscript No 1136/5.

16. Tamil "Puliyur Puranam" in Sanskrit language

tree Padari is also called as PADALI or PATALI in Sanskrit and the place as "PATALIPUR or PATALIPUTRA and the forest round about the place is called "PATALIVANA or as given in Sanskrit Such type of discription has been found in almost all the Tamil works and literatures [17(A)]

Also we learn from Poranas[17(B)] in Tamil and other works very fine description of this Pataliputra written at different times by the different writers While giving account of Patalivanam, which was round about the city of Pataliputra in those days through which the famous river GADILAM was flowing near the city it is said that the Patalivanam was the abode of the Great Munis and Yatis, Rishis for centuries We get even today a great number of Sama dhisthanams or the NISHADHIS of the ancient times with the prehistorical burial grounds spread throughout the PATALIVANAM area [18]

The existence of the city of Pataliputra is also supported by the Archiaeological finds such as inscriptions and other material found in excavation made by the Government Amongst which are found two inscriptions from the ruined ancient temples at Pataliputra Out of which one was in the Garbhagraham of the said temple This inscription gives two stanzas about the description of the temple, which begins with 'TALAITYA THIRUPADARIPULIYUR and states that the temple in the town of Patali of thick foliage has been founded for the diety named "KADAINYALAI MAHADEVA etc. Thus it is clear that THIRU' in Tamil meens SRI" in Sanskrit Puli in Tamil means a form of tiger like and Ur in Tamil means a "PURA in Sanskrit. In short it gives complete reference to the existence of the ancient Pataliputra [19]

---

17 (a) Tamil 'Parijatakachal Mahatrm Mass No 11303

(b) Tamil "Kanchi Puranam all manuscripts from the Maharaja Sarfoji Bhonsala Sarasvati Mahal Library at Tanjore City South India

18 Tamil work Thirupadaripuliyur Kalambakam" a work verified Structive Directory by Mr Tukapiat Tewar

19 Tamil "Periyapuranam" part II page 52 under the heading as Tirupuliyur" and Tirupuniyuratam" or 'Tiruviruttam" both manuscripts in the above Tanjore Library

Even the Government records also give us the information that throw sufficient light over the existence of the ancient Pataliputra in South India, as described up till now in the above paras. It says thus" In Cuddalore which is the old THIRUPADARIPULIYUR, there is the big temple honoured by the songs of Siva Saints. There is the CHOLA inscription in the temple It appears that during the times of Appar, the JAIN TEMPLE in this place was dimolished and a Temple of Siva called "GUNAPATISWARAM" was built by Mahendravarman[20] at THIRUVADIHAI, on the river Gadilam. Further we get reference in the publications that Pataliputra was being called also as "PALIBOTRA"[21] which was destroyed by the river that was flowing by. near the town in the middle of the 8th century A D. Besides the distruction made by the nature-river etc of the old city of Pataliputra, it was more the scene of dreadful and tremendous distruction made by the Kind Mahendravarman I of Madura and Saint Appar, the new converts to Saiva Sect, and jointly began to give such a crushing blow to Jain religion that it was absolutely rooted out from the land of Tamil, by converting the Jains and their associations and possessions and ultimate result was no ancient Jain temples-Bastis or Pallis, Mathas-monastaris, Chaityas, Caves, Caverns, Holy places, Jain Idols and images carved on the Jain temple pillars, Mahamandapams, etc, remained safe but completely distroyed, which can be seen by any layman with his nacked eyes clearly, even this day bright light It is said that thousands of Jains had to sacrifice to save their most valuable religion with all its possessions and associations from the hands of these new converts.

In the vicinity of this ancient Pataliputra there are good many ancient Jain places still in existence, such as Thirunarunkundram, Thirukkoilur, Devanur, Tondur, Perumdur, etc. In some of the villages round about them there are many ancient Jain Samadhi-sthanam NISHADHIS and as such a tradition is that nearly 6000

---

20. "District History of South Arcot" by Mr. P. V Jagadisha Ayya of the Archaeological Survey of India, page No 35

21 (a) Mr Apte's Dictionary page 1046 and "Clasical Account of India.

(b) The Geographical Dictionary of Ancient and Medival India by Mr. Nundalal Day, M A B.L.

MUNIS Samadhisthanams or Nishadhis are at THIRUVANNAMALAI and THIRUKKOILUR, in South Arcot District. No doubt that there are prehistorical burial grounds spread all over the part in great number as compared to any other place in Tamilnadu There are also ancient natural caverns and caves still in delapidated conditions at KALARAYAN HILLS This district specially was a great centre of the Jain and their religion quite at zenith from the very begining of the Christian Era, upto the times of King Mahendra varman I (6th Cent. A D)[22]

From the above discussion the following facts are clear —

(1) Pataliputra—the present Patna was at zenith and important place in the 2nd century A D when Acharya Samantabhadra is said to have lived (2) Acharya Samantabhadra might have visited Pataliputra in Tamil land the ancient Thondaimandalam South India, which is associated with other cities when Jain Religion and culture has attended the highest degree of importance

Therefore I have made an attempt to show in my humble way, I have nothing to say about other scholars who also must have based their ideas about Pataliputra Patna, on some other records I have given this only with a view that the scholars may again try to find the truth in the light of observations made by me on the subject matter

22 (a) Gazettier of the South Arcot District and archaeological reports of the Southern circle Survey Office Madras

(b) Rao Bahadur Prof A Chakravarti M A —preface to Thiruvalluvar Kural English Translation

जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम

१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी पाण्मासिक पत्र है, जो वर्ष में दो बार प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देश के लिये ३) और विदेश के लिये ३॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १॥) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा रहेगी।

३ इसमें केवल साहित्य-संबन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। प्रबन्धक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं; मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में परिवर्तन की सूचना भी तुरन्त आरा को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' प्राप्त न हो, तो इसकी सूचना शीघ्र कार्यालय को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर अर्वाचीन काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना आदि सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख टिप्पणी आदि को पूर्णत: अथवा अंशत: स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकों को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' कार्यालय आरा के पते से ही भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से केवल जैनधर्म की उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं—

प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये, एम. ए. डी. लिट्.
प्रो० गो० खुशाल जैन एम० ए०, साहित्याचार्य
बाबू कामता प्रसाद, एम. आर. ए. एस.
पं० नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, साहित्यरत्न

PRINTED BY D K JAIN SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD
ARRAH

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग १५ किरण २

THE JAINA ANTIQUARY

Vol XIV No 2

Edited by

Prof A. N Upadhya, M A D Litt
Prof G Khushal Jain M A Sahityacharya
B Kamata Prasad Jain M R A S, D L
Pt Nemi Chandra Jain Shastri Jyotishacharya

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAIN SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH BIHAR INDIA

Inland Rs 3 Foreign 4s. 6d Single Copy Rs 1/8
JANUARY, 1949

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग १५ | जनवरी १९४९ | किरण २

सम्पादक

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये एम० ए०, डी० लिट्
प्रोफेसर हीरालाल जैन एम० ए०, साहित्याचार्य
बाबू कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस०, डी० एल०
पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, ज्योतिषाचार्य साहित्यरत्न

जैन सिद्धान्त भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) | विदेश में ३।) | एक प्रति का १।।)

विषय-सूची

श्रीजिनाय नमः

जैनपुरातत्त्व और इतिहास विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग १५	जनवरी १९४९। माघ, वीर नि० सं० २४७५	किरण २

चीनदेश और जैनधर्म

[ले०—श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन एम० आर० ए० एस०, डी० एल०]

---o---

"The cultural relationship between China and India has an extra remote origin So remote that it is beyond our comprehension"—

Dr Tai Chi—Tao[1]

चीनदेश के प्रकाण्ड पण्डित डॉ० ताइ-चि-ताउ का कथन है कि चीन और भारतवर्ष का सांस्कृतिक सम्बन्ध अतीव प्राचीन है—इतना प्राचीन कि उसका अनुमान लगाना कठिन है। डॉ० सा० का यह कथन निस्संदेह वस्तुस्थिति का द्योतक है। जैनशास्त्रों में हमें चीन देश का उल्लेख कर्मभूमि के आदिकाल में भ० ऋषभदेव के समय से ही मिलता है। तब चीनदेश की गणना आर्य देशों की कोटि में की गयी थी[२] और पुराणकार कहते हैं कि भ० ऋषभदेव के पुत्रों के नामकी अपेक्षा अथवा उनके शासनाधिकार में रहने के कारण देशों के जो नाम प्रसिद्धि में आये थे, उनमें चीन और महाचीन देश भी थे[३]। यह निश्चित है कि सुसंस्कृत चीनवासियों के पहले उस देश में असभ्य मनुष्य रहते थे। चीनलोग

1 On Cultural Relations Between India & China by Tai Chi Tao p 1

२ प्रश्नव्याकरण सूत्र (श्वे०)-हैदराबाद संस्करण—पृ० १४ (प्रकाश, पोष [illegible])

३ "ऋषभदेवस्य पुत्रशतं आसीत् सर्वेषां आधिपत्य। ते कुरु-काश्मीरदेश [illegible] एवं [illegible] [illegible] बाह्लीक, काश्मीर, सौराष्ट्र, चीन, महाचीन [illegible] ... अनेक देश जाता।"—[illegible]

—Dalal, प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह (बड़ौदा) पृ० [illegible]

कासपियन झील के दक्षिण से जाकर के चीन में बसे बताये जाते है। पुरातत्त्वविदों का मत है कि वे मिस्रीयवंशोद्भूत ही संभवतः है। उनकी शरीर आकृति और अवयव आर्यजाति से सम्पूर्ण भिन्न है। वह मङ्गोलीयश्रेणि भुक्त है। फोही चीन के प्रथमाधीश्वर अनुमान किये जाते है, जिन्होंने चीनीभाषा बनायी और राज्य में विवाह, सङ्गीतशास्त्र, वेशभूषादि के नियम प्रचलित किये और उन्हें लिपिबद्ध किया। वह चीनी वर्णमाला के आदि स्रष्टा थे[४]। इस इतिवृत्त से जैनों का यह कहना कि चीन मूलतः अनार्य देश था, उचित ठहरता है। जैनों को चीन का पता उस समय से था जबकि वहाँ के आदिनिवासी सभ्य और सुसंस्कृत नहीं थे। किन्तु जैनों का सीधा सम्पर्क चीनवासियों से कब हुआ और जैनधर्म कभी वहाँ पहुँचा या नहीं ? यह प्रश्न विचारणीय हैं।

डॉ० बुल्हर को भी अपने अध्ययन में यह शङ्का हुई थी कि क्या जैनधर्म चीन में कभी पहुँचा था[५]। डॉ० वेबरने जैन ज्योतिष शास्त्रोंका अध्ययन करते हुए उसका सादृश्य चीनी-मान्यता से पाया था। इसपर उन्होंने यही अनुमान निर्धारित किया था कि जैनों से चीनवासियोंने ज्योतिष विद्या ली थी[६]। चीनी हमारी तरह ही बारह राशियाँ और दस दिक्पालादि मानते थे[७]। जैन चिन्ह स्वस्तिका भी चीनों को मान्य है, जो भारत से वहाँ पहुँचा है[८]। इसके अतिरिक्त चीनदेश के प्राचीन धर्म तावइज़्म (Tavism) की शिक्षा बिल्कुल जैनधर्म के अनुरूप है। जैन विद्वान् श्रीचम्पतरायजी विद्यावारिधि ने तो लिखा है कि "तावमत यथार्थ भावकी अपेक्षा जैनधर्म की शिक्षा का ही खुलासा है।"[९] तावमत की स्थापना भ० महावीर के समय अर्थात् ईस्वी पूर्व छठी शताब्दि के लगभग लावट्ज़े (Lao-tze) नामक तत्त्ववेत्ताने की थी। 'ताव' शब्द का अर्थ जीवन है, जो अनादिनिधन है। इस शाश्वत जीवन को प्राप्त करना मानव का ध्येय है। तावमत के रहस्यमय ग्रन्थ 'ताव-तेह-चिङ्ग' (Tao-Teh-Ching) में लिखा है कि—

"जितना ही विशेष दूर कोई मनुष्य अपनी सत्ता (जीवन-आत्मा) से बाहर जाता है, उतना ही कम वह अपने को जानता है।" (से० बु० ई०, भा० ३९ पृ० ८९)

---

४ हिन्दी विश्वकोष, (कलकत्ता) भा० ६ पृष्ठ ४१७

5 "I do not know. if Jainism flourished in China —Buhler जैनधर्म का महत्व (बंबई) पृ० २७२

6 "...The Chinese must be regarded as the borrowers, through the medium of Buddhism, with which Jainism was frequently confused by the Chinese." —Dr Weber, nd. Ant, XXI., p. 15.

७ हिन्दी विश्वकोष, भा० ६ पृ० ४२७

८ रासमाला, पृ० ५२

९ असहमत संगम पृ० २१५

यह शिक्षा बिल्कुल जैन के अनुरूप है। एक जैनी प्रतिदिन बाह्य सम्बन्ध में न जाने की भावना निम्न शब्दों में भाता है—

"न सन्ति बाह्या मम केचनार्था,
भवामि तेषां न कदाचनाहम्।
इत्थं विनिश्चित्य विमुच्य बाह्यं,
स्वस्थः सदा त्वं भव भद्र मुक्त्यै ॥ २४ ॥"—सामायिकपाठ

आगे उसी चीनी पुस्तक में कहा है कि—

"वह मनुष्य जिसकी जात (व्यक्तित्व) में ताव (शाश्वत जीवन) के गुण विशेषरूप से हैं, एक बालक के सदृश होता है। विषैले कीडे उसको डंक नहीं मारते। क्रूर पशु उसको नहीं पकड़ते। शिकारी पक्षी उसको नहीं खाते।" (पूर्व पृ० ९९)

जैनधर्म में वर्णित जीवन की तीन अवस्थाओं बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा में से उपर्युक्त वर्णन का सादृश्य अन्तरात्मा से है। अन्तरात्म दशाको प्राप्त मानव समरसी होनेके कारण विश्वप्रेम का पुतला होता है। द्वेष, द्रोह और दुःख उसके पास नहीं फटकने। यही परमात्मरूप को जानकर परमात्म दशाको प्राप्त होना है। चीनीमत में भी यही कहा गया है—

"मनुष्य अपनी मानसिक शक्तियों को पूर्णरूप से काममें लाकर अपने स्वभावको समझ जाता है और जब वह अपने स्वभावको समझ जाता है तो वह परमात्मा को समझ जाता है।"[1]

जैनसाधक नित्यप्रति यही भावना भाता है। वह 'सामायिकपाठ' में कहता है—

'आत्मानमात्मन्यविलोकयमान—
—स्त्वं दर्शनज्ञानमयो विशुद्धः।
एकाग्रचित्तः खलु यत्र तत्र,
स्थितोपि साधुर्लभते समाधिम् ॥ २५ ॥'

शाव-याङ्ग नामक चीनी विद्वान् उस परमात्मा को हृदय में विराजमान बतलाते हैं। वह लिखते हैं—

"आकाश शान्त है। कोई शब्द नहीं होते हैं।
तब परमात्मा कहाँ मिलेगा?
दूरस्थ व्याप्त आकाश में उसकी खोज मत करो,
वह स्वयं मनुष्य के हृदय में विराजमान है।"[2]

1—2 धर्मसमन्वय संगम पृ० ११० १११

हृदय में विराजमान इस परमात्माको प्राप्त करना ही चीनी मुमुक्षु का ध्येय है।' जैन साधक का ध्येय भी तो यही है! परमात्मदशाके महत्व को प्रकट करनेवाले चीनी तत्त्ववेत्ता के निम्नलिखित वाक्य बड़े ही मार्मिक और अध्यात्मरस से पूर्ण हैं—

"प्रत्येक मनुष्य जो बाह्य वस्तुओं में विशेषरूपेण लिप्त रहता है (अर्थात् उनसे मोह करता है) वह अन्तरंग में निर्धन होता है।" (दी म्यूजिंग्स ऑव ए चाईनीज़ मिस्टिक—पृ० १००)

"यदि तुम मानसिक पूर्णता की प्राप्ति में दत्तचित्त हो जाओ तो पुण्य और पाप सत्ताहीन हो जावें। यदि जिह्वा अपने प्राकृतिक नियम के आधीन हो जावे तो उसको लाभ और हानिका भान न होगा।"

(तावइस्ट टीचिंग, पृ० ४७)

"शरीर से छुटकारा पाने के लिये केवल एक ही मार्ग है, जो मनसे कषायों का निकाल डालना है।" (Ibid, p-42)

"महात्मा पुरुष सर्वोत्तम विजयी है।" (SBE. xxxix. p 385)

"वह मनुष्य जिनमें उत्कृष्ट गुण पाये जाते हैं प्रकाशपर अवस्थित होकर ऊपर चढ़ जाते हैं। उनके शरीर के बन्धन नष्ट हो जाते हैं।" (Ibid, 324)

"ध्येय की प्राप्ति का अर्थ पूर्ण आनन्द है।... ...आजकल ध्येय प्राप्तिका भाव गाड़ियों और छत्र की सिद्धि से है। परन्तु गाड़ियों और छत्रका प्रभाव शरीरपर पड़ता है। उनका कोई सम्बन्ध हमारे स्वरूप से, जैसा वह वास्तव में है, नहीं है। जब ये वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं तो वह अल्प समय के लिये होती हैं। क्षणिक होनेके कारण उनका आना जाना रुक नहीं सकता है।......... अतः वह मनुष्य जो सांसारिक वस्तुओं के पीछे अपने आपको भूल जाते हैं और पौद्गलिक वस्तुओं के ध्यानमें अपने असली स्वरूपको गंवा देते हैं। उनकी बाबत कहना पड़ता है कि वे ऐसे मनुष्य हैं जो प्रत्येक कार्य को उल्टा करते हैं।" (Ibid pp 372-37

ठीक इस प्रकार के धर्म-वाक्य जैनशास्त्रों में हमको पद-पद पर मिलते है। उदाहरण रूपमें कतिपय निम्न प्रकार हैं—

ममपुत्तं मम भज्जा मम धणधण्णोत्ति तिव्वकंखाए।
चइऊण धम्मबुद्धि पच्छा परपडदि दीहसंसारे॥" (बारहअणुवेक्खा)

भावार्थ— बाह्य जगत के मोहबन्धन में फँसे रहने के कारण कि यह मेरा पुत्र है, मेरी भार्या है, मेरा धनधान्य है और धर्मबुद्धि को छोड़ देनेमे मानव दीर्घ संसार में पड़ता है।

"जेण णिरजणि मणु धरिउ विसयकसायहि जंतु।
मोक्खह कारणु एत्तडउ अवरउ तंतु ण मंतु॥" (पाहुडदोहा)

अर्थ—"विषयकषायों में जाते हुए मनको जिसने निरजन में रोक लिया तो शरीर से मुक्त होने—मोक्षपानेका कारण इतना ही है। और कोई तंत्र है न मंत्र।"

'पाउनि अप्पहिं परिणवइ कम्मह ताम करेइ।
परमणिरंजणु जाम ण वि णिम्मलु होइ मुणेइ॥'—पाहुडदोहा

अर्थ—' पापैका आत्मा में तभीतक परिणाम होता है और तभीतक कर्मबन्ध होता है, जबतक, निर्मल होकर, परमनिरंजनोंको नहीं जान लेता।"

'जोइय जोए लइयइण जइ धंधइ ण पडीसि।
देहकुडिल्ली परिखिवइ तुहु तेमइ अच्छेसि॥"

अर्थ—'हे जोगी! जोग लेकर यदि तू फिर धंधे में नहीं पड़ेगा तो इस देहरूपी कुटिया का नाश हो जायगा और तू अक्षय (परमात्मा) हो जायगा।"

"अरि जिय जिणवरि मणु ठवहि विसयकसाय चएहि।
सिद्धि महापुरि पइसरहि दुक्खह पाणिउ देहि॥"

अर्थ—रे जीव, जिनवर में मनको स्थिर कर, विषय कषाय को छोड़, सिद्धिमहापुरी में प्रवेश कर और दुखों को पानी दे।"

"तोडिवि सयल वियप्पडा अप्पह मणु वि धरेहि।
सोक्खु णिरंतरु तहिं लहहि लहु संसारु तरेहि॥'

अर्थ—"समस्त विकल्पों को तोड़कर आत्मा में मनको धारण कर वहीं तुझे निरन्तर सुख मिलेगा और तू शीघ्र संसार को तर जायगा।"

"जे पज्जयेसु णिरदा जीवा परसमयिग त्ति णिद्दिट्ठा।
आदसहावम्मि ठिदा ते सगसमया मुणेदव्वा॥"

भावार्थ—जो जीव पर्यायों में मोही हो रहे हैं—संसारी वस्तुओंके रागद्वेष में फँसे हुए हैं, वे बाहर के पराये मतके अनुयायी हैं और जो स्वात्मा के स्वभाव में लीन हैं, वे अपने—आत्मधर्म के माननेवाले हैं।

"तिसिद व भुक्खिदं वा दुहिदं दहूण जो हि दुहिदमणो।
पडिवज्जदि त किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा॥"

भावार्थ—जिसके हृदय में भूखे, प्यासे और दुखीको देखकर पीड़ा उत्पन्न होती है और उन्हें वह करुणा से अपनाता है, वह मानव ही अनुकम्पावाला है।

इस प्रकार पाठक देखेंगे कि प्राचीन चीनीधर्म और जैनधर्म के सिद्धान्तों में परस्पर कितनी एकता है! दोनोंके सिद्धान्त और उपदेश एक समान हैं। क्या यह संभव नहीं है कि तीर्थङ्कर महावीर की पवित्र वाणी का प्रसार ही लावत्जे द्वारा चीनमें किया गया हो? अतः कहना होगा कि चीनीवासी जैनधर्म और अहिंसासिद्धान्त से सर्वथा अनभिज्ञ नहीं थे। संभव है कि बौद्धधर्म के साथ अथवा उससे पहले ही जैनधर्म वहाँ पहुँचा हो। शास्त्रीय साक्षी तो यही बताती है। चीनके प्राचीन स्थानों और कीर्तियों का सूक्ष्म अवलोकन जैनदृष्टि से किया जावे तो संभव है कि जैनोंके अस्तित्व का कुछ पता वहाँ चले। श्री एन० सी० मेहताने बताया था कि चाइनीज़ तुर्किस्तान की गुफाओं में नग्न साधुओं के चित्र बने हुए मिले है, जो संभवतः जैन थे[1]। कुछ प्राचीन मूर्तियाँ भी वहाँ पर ऐसी है, जो यद्यपि म० बुद्धकी मूर्तिके रूपमें पूजी जाती हैं; किन्तु उनकी आकृति जिनप्रतिमा सदृश है[2]। वैसे चीनी भाषाके त्रिपिटक एवं अन्य शास्त्रोंमें जैनोंका उल्लेख मिलता है। डॉ० टुक्कीका कथन है कि उनमें जैनोंका उल्लेख मुख्यतः 'निर्ग्रन्थ' नाम से और गौणतः 'अचेलक' रूपमें हुआ है। उनको 'ज्ञातिपुत्र' अथवा 'ज्ञातृपुत्र' श्रमणों से भिन्न निर्दिष्ट किया है[3]। ज्ञातृपुत्रोंको प्रो० टुक्की सा० आजीविक अनुमान करते हैं; परन्तु हमें भूल न जाना चाहिये कि भ० महावीर स्वयं 'ज्ञातृपुत्र' कहलाते थे और अनेकान्तमत—अस्ति नास्त्यादिरूप स्याद्वादके उपदेष्टा थे। चीनीशास्त्र ज्ञातृपुत्र श्रमणों को 'अनुभय-सिद्धान्त' का प्रतिपादक घोषित करते है। हमारा अनुमान है कि चीनी साहित्य में भ० महावीर ज्ञातृपुत्र से पहलेके जैनश्रमणों का उल्लेख निर्ग्रन्थ अथवा अचेलक श्रमण रूपमें किया गया है और भ० महावीर के श्रमण उनकी अपेक्षा ज्ञातृपुत्र-श्रमण कहे गये हैं।

आर्यदेव के 'षटशास्त्र' में निर्ग्रन्थ श्रमणों के आप्तदेव ऋषभ कहे गये है और उसमें निर्ग्रन्थ श्रमणों की कठिन तपस्या का विशेष उल्लेख किया गया है। चीनी टीकाकार कि—त्साग ने उसकी विवेचना करते हुए निर्ग्रन्थ मतपर विशेष प्रकाश डाला है। चीनी भाषामें संस्कृत से अनुवादित हुआ 'उपयहृदय' नामक एक न्यायग्रन्थ उपलब्ध है। उसमें निर्ग्रन्थ (जैन-सिद्धान्त) का निरूपण हुआ है। जैनों के नव-तत्त्वों में निर्जरा को छोड़कर केवल

1 An Introduction to Indian Art

२ मध्यचीन में नानकिंग से २० मील दूर अवस्थित 'सहस्रबुद्ध' नामक मठ में जो २४ फीट ऊँची बुद्ध मूर्ति (पद्मासन) विराजमान है, वह बिल्कुल जिन प्रतिमा भासती है। आजकल उसे चीवर उढ़ा रक्खा है। फिर उसकी ध्यान मुद्रा और आसन जैन के समान है। ता० १८ जुलाई ४८ की 'इंडिया' में चित्र है। यह १५०० वर्ष प्राचीन है।

३ "वीर" महावीर जयन्ती विशेषांक, वर्ष ४ पृ० ३३२-३३६

आठ (१) जीव, (२) अजीव, (३) पाप, (४) पुण्य, (५) आस्रव, (६) संवर, (७) बंध, (८) मोक्ष बताये हैं। पाँचों ज्ञानों का निर्देश अलग या ठीक से किया गया। आठ कर्मोंका उल्लेख छः आवरणों के नामसे निम्नप्रकार किया है—

(१) दर्शनावरण, (२) वेदनीय, (३) मोहनीय, (४) आयु, (५) गोत्र, (६) नाम। इनमें ज्ञानावरणीय और अंतराय को चीनी लेखक भूल गया है। क्रोध, मान, लोभ, माया—

इस प्रकार चार कषाय भी गिनाये गये हैं। चीनी साहित्यमें और भी बहुत से जैन सम्बन्धी उल्लेख प्रो० टुची को मिले हैं, जिसपर वह एक लेख लिखनेवाले थे[१]। साराशत चीनीभाषा के साहित्यमें जैनोंके उल्लेख मिलना इस बातका प्रमाण है कि चीनीलोग जैनधर्म से परिचित थे।

जैनसाहित्य में आगे जो थोड़े से उल्लेख हमें मिले हैं उनसे स्पष्ट है कि जैनियोंका सम्पर्क चीनदेश से प्राचीनकाल से है। जैन व्यापारीगण समुद्र द्वारा जिन द्वीपों से व्यापार करते थे उनमें चीन देशका भी नाम मिलता है। 'शत्रुञ्जयमाहात्म्य' में जैन सेठ जावड़के चरित्र में लिखा है कि उसके जहाज़ भोट, महाचीन और चीनको गये थे[२]। फिर वह सुवर्णद्वीप पहुंचा था। चीनदेश की वस्तुओंमें चीन पट, एक विशेष प्रकार का वस्त्र और धवल (कपूर) जैनोंमें विशेष प्रचलित थे[३]। जिस प्रकार आजकल चाइना सिल्क प्रसिद्ध है, वैसे ही उस प्राचीन कालमें चीन पट प्रसिद्ध था और वह एक खास रंगका बनता था, यही कारण है कि प्रसिद्ध राजवार्तिक कारने उसके रंगके अनुरूप एक विशेष पर्वतका रंग निर्दिष्ट किया था। "चीनपट्टवर्ण" वाक्यका अर्थ "चीनदेश के बने हुए रेशमी कपड़ोंका-सा वर्ण" पर्वतका है, श्रीमान् पण्डितप्रवर माणिक्यचन्द्रजी न्यायाचार्य ने निर्देश करने की कृपा की है। श्रीवसुबिन्दु प्रतिष्ठापाठ में चीन के कोमल सचिक्कण सुन्दर वस्त्र को प्रतिष्ठा कार्य में आच्छादन के लिये प्रयुक्त करने का विधान है।[४] श्रीहेमचन्द्राचार्यने चीनाक नामक एक धान्यविशेष का उल्लेख किया है, जो कौवों को अधिक प्रिय होता है। ("चीनकस्तु काककङ्गु) [काकप्रिया कङ्गु काककङ्गु]—अभिधानचिन्तामणि ४। २४४) संभव है कि

१ वीर" महावीर जयन्ती विशेषांक वर्ष ७ पृ० ३२२ ३२६

2 'gāvaḍa sent ships to Bhota Mahāchīna and china
—Burgess Satrunjaya Māhātmyan (Bombay) p 30

३ राजवार्तिक पृ० ४०, श्वे० बृहद् भाष्य (३।३६६२) में इसका नाम 'चीणंसुय' लिखा है। 'णायकुमार चरिउ' (३।१।४) धवल नाम से चीनीकपूर का उल्लेख है। 'धवल' चीनी कपूर का अपरनाम है, यथा —

'घनकरचीनकर्पूर कृत्रिमो धवल पटु। मेघसारस्तुषारश्च द्वीपकर्पूरज स्मृत ॥" मुनिसुव्रत काव्य सर्ग ९ में कपूर के उपयोगका उल्लेख है।

४ "चीनरत्नपरम्भूतरीयपट लेरक्तन पुरा निर्मितं।" वसुविन्दु प्रतिष्ठापाठ सटीक पृ० ५१

यह शब्द चीनदेश के चावल के लिये प्रयुक्त हुआ हो। सारांश यह कि चीनदेशकी वस्तुओं का ज्ञान जैनियोंको था—वे उनको अपने दैनिक व्यवहार में लाते थे।

प्राचीनकाल में भारतवासी चीनदेशको स्वर्गलोक और इन्द्रको वहाँ का शासक मानते थे। भारतवासी मनुकी संतान होनेके कारण मानव अथवा मनुष्य कहलाते थे। विद्वानोंका मत है कि इन भारतीय मनुष्यों का संघर्ष देवताओं और दैत्यों से चला करता था। भारतीय मानव प्रायः देवताओंके साथ रहा करते थे। दैत्यों के लिये देवताओंके देशको विजय करना सुगम न था। जब कभी भारतीय आर्य देवताओंकी सहायता करने गये तो वे हिमालय पर्वतको पार करके वहाँ पहुंचे थे। सचमुच देवताओं का देश चीन ही था। अर्जुनने हिमालय में तपस्या करके इन्द्रराज से दिव्य अस्त्र प्राप्त किया था। देवलोककी गणना वर्जित देशों में की गयी है- चीन भी ऐसा ही देश समझा गया है। देवताओंकी तरह चीनी भी अपने सौन्दर्य के लिये प्रसिद्ध हैं [१]। चीनी स्वयं अपने देश और राज्य को 'स्वर्गीय' अर्थात् देवलोकका बताते हैं [२]। दैत्य, किन्नर, नाग आदि नामों की जातियाँ मध्य-ऐशिया में एक समय बसती थी [३]। जैनग्रन्थों में मानवों के साथ-साथ सुर, खेचर और किन्नर जाति के लोगोंका उल्लेख हुआ मिलता है [४]। नरलोक में विजयार्द्धादि पर्वतोंपर स्वर्गों के देवता नहीं मिल सकते। अतः यह मानना होगा कि उपर्युक्त वाक्यों में 'सुर' और 'किन्नर' शब्द नरलोक के मानवों के लिये प्रयुक्त हुए है। खेचर शब्द विद्याधरवंश के लोगोंका द्योतक था। सिंहलद्वीप में सुरों, खेचरों और किन्नरोंको क्रीड़ा करते हुए लिखा है [५]। करकण्डु के विषय में लिखा है कि वह उस घने जंगल में घुस गये जिसमें मनुष्य, खेचर, किन्नर और सुर भी नहीं घुस सकते थे [६]। स्मरण रहे, विक्रिया ऋद्धिधारी सुरों के लिये किसी भी जंगल में घुस जाना बायें हाथ का खेल है। अतः उपर्युल्लिखित सुर-किन्नर देवपर्याय के न होकर नरपर्यायके लोग ही होना चाहिये। 'भविसयत्तकहा' में एक स्थानपर उल्लेख है कि 'इन्द्र-नरेन्द्र-सुरेन्द्रने अर्चना की [७]।' इस वाक्य में इन्द्र देवपर्यायका द्योतक है और सुरेन्द्र नरलोक के सुरोंका बोधक होना चाहिये। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि जैन लेखक भी नरपर्यायके सुर-किन्नरादि जातियों से परिचित थे।

१ अंग्रेजी जैनगजट, फरवरी-मार्च ४८, पृ० २८-२९

२ हिन्दी विश्वकोष, भाग ४ पृ० ४१७

३ नन्दूलालडे कृत 'रसातल' नामक पुस्तक देखें

४ करकंडुचरिउ (कारंजा सीरीज़) २।२, ३।१, ७।३।४-५

५ करकंडुचरिउ, परिच्छेद ७ कड़व ३ छंद ५-६

६ करकंडुचरिउ, ७। ३। ४-५

७ 'इंदणरिंदसुरिंदहि अंचिउ।'—४।१२

जैन 'पद्मपुराण' में विद्याधरवंश के परिचय में लिखा है कि विजयार्द्ध पर्वत की दोनों श्रेणियों के अधिकारी नमि—विनमि के वंशज विद्याधर कहलाये थे। उनमें एक इन्द्र नामका राजा मुनिसुव्रतनाथजीके तीर्थकाल में प्रसिद्ध हुआ था। उसके समय में विद्याधर लोग इधर उधर फैल गये थे। इन्द्रने उन सबको वश किया और देवेन्द्र वत् उसने राज्य व्यवस्था की स्थापना की। उसने विद्याधर लोगों में देवनिकाय के भेद प्रभेदों और नामों की कल्पना की। असुरनगर के विद्याधर असुर, यक्षकीर्तिनगर के यक्ष, किन्नरनगर के किन्नर इत्यादि कहलाये[१]। इन्द्र स्वयं सुर विद्याधर हुआ और उसका साम्राज्य सुर अथवा देवसाम्राज्य कहलाया। अतएव यह स्पष्ट है कि जैन कथाओं में विद्याधरवंशोद्भूत सुर असुर किन्नर नाग आदि लोगोंका भी उल्लेख हुआ है। इन्द्रका यह सुर साम्राज्य संभवतः चीन में अथवा उसके निकट ही स्थापित हुआ जामता है। हिन्दू पौराणिकोंने इन्द्रकी राजधानी और उसके राजोद्यानादि उत्तरीय ध्रुवमें स्थित बतलाये हैं। स्वर्गादि की कल्पना भी हिन्दुओंने वहाँ ही की है[२]—यह इन्द्र विद्याधर राजा ही हो सकता है, क्योंकि देवेन्द्र को हिन्दू भी ऊर्ध्वलोक में मानते हैं। इस अवस्था में विजयार्द्ध की स्थिति उत्तर और दक्षिणी ध्रुवों में होना संभव है। विजयार्द्ध २५ योजन ऊँचा और भूमिपर ५० योजन चौड़ा शास्त्रों में बताया है। वह पूर्व पश्चिम समुद्र से समुद्रतक विस्तृत है और चाँदी के समान सफेद है[३]। इन ध्रुवों में जो खोज हुई है उससे वहाँ नगरों और ग्रामोंका अस्तित्व प्रमाणित होता है। एक समय बर्फ की अधिकता ने वहाँ के निवासी यूरोप, एशिया आदि देशों की ओर चले आये थे[४], पदार्थ विज्ञान से भी इस जीतके प्रकोपका समर्थन होता है[५]। अतएव इन्द्र विद्याधर के वंशज चीनमें आकर बसे हों और उन्होंने अपने पूर्वज इन्द्रको मान्यताके अनुसार अपने राज्यको सुर्ग या देवोंका राज्य कहा हो तो आश्चर्य नहीं। इस ओर गवेषणा और शोध करने की आवश्यकता है।

जैनग्रन्थों में मंगलावती (मंगलवाद) नामक देशका बहुत उल्लेख हुआ है[६], एक मंगलावती देश धातुकी खंड में था और दूसरा जम्बूद्वीप में। अधुनाज्ञात लोकका समावेश जम्बूद्वीपान्तर्गत भरतखंड में होता है[७]। अतः यह मंगलावती देश अथवा उसके निवासी मंगल—लोगोंका पता ज्ञात दुनिया में चलाना असंगत नहीं। सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथका

१ श्रीपद्मपुराण (कलकत्ता) पृ० ९६ व १०६ १०९
२ ज्योग्राफिक रिसर्चेज, भा० १ पृ० २९
३ पद्मपुराण पृ० ४८ ५६ व हरिवंशपुराण, पृ० ५७
४ 'वीर' भाग २ अंक १०-११
५ प्री हिस्टॉरिक इंडिया पृ० ३३
६ त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्रम् (मा० ग्र०) पृ० ८, २२, २८, ३६, एवं १४२
७ हमारी रचना "भगवान् पार्श्वनाथ" पृ० १३१ १४८

जीव अपने एक पूर्वभव में मंगलावती देशके राजा क्षेमंकर की रानी कनकचित्राका पुत्र रत्नसंचयपुर में जन्मा था। वज्रायुध उसका नाम था। क्षेमंकर मुनिराज से दीक्षा ले उसने तप तपा और वह स्वर्ग गया था[1]। चीनदेश का अपरभाग मंगोलिया नामसे प्रसिद्ध है। उसका यह नामकरण मंगोल जातिके कारण है। क्या यह संभव नहीं कि मंगलावती देशके लोगोंने चीनके इस भागका नाम मंगोलिया रक्खा हो? वास्तवमें जैनशास्त्रों में वर्णित देशों और क्षेत्रोंका अध्ययन करने की आवश्यकता है। तब ही कुछ निश्चयात्मक कहा जा सकता है। मंगलावती देशरूपमें जैनी मंगोलिया से परिचित हों तो आश्चर्य क्या?

जैनशास्त्रभंडारों में "ब्र० लामचीदास की कैलाशयात्रा" नामक रचना संवत् १८२८ की लिखी हुई मिलती है। लाडनूं से श्रीभैरोंदानजीने ता० ५। ८। १९२७ को उसकी प्रतिलिपि हमको भेजी थी। उसको पढ़कर हमने उसे जाली अनुमान किया था, क्योंकि किसी भारतीय का नाम लामचीदास नहीं होता और चीनादि देशों में जैनों का उल्लेख भी हमें संदिग्ध जंचा था। किन्तु अब हमारा विचार बदल गया है। एक भारतीय का लामचीदास नाम होना संभव है, क्योंकि तिब्बत भूटानादि देशों में जो भारतीय जाकर बसे थे, वह स्थानीय प्रथाओं से प्रभावित हुए थे और उन्होंने मिलेजुले नाम रक्खे[2]। ब्र० लामचीदास नाम भी आधा तिब्बतीय और आधा भारतीय है। 'लामा' तिब्बत भूटान में पुरोहित भिक्षु को कहते है। संभव है कि किसी लामा से जादू-गंडा कराया गया हो और उसके बाद ही लामचीदासजीका जन्म हुआ हो। अतः लामा के अनुग्रह को लक्ष्य कर उनकी माताने लामचीदास नाम रक्खा। वह लिखते है कि वह क्षत्रिय कुलोत्पन्न सूर्यवंशी गोलालारान्वयके श्रावक जैनी थे। भूटान देशके गिरमध्यनगर में वह रहते थे। वहाँ से वह विक्रम सं० १८०६ में ब्रह्मा चीनकी यात्रा के लिये गये थे। कामरूप होकर वह ब्रह्मा के किरीटम प्रदेश के कोसी नगरमें पहुँचे जहाँ की स्त्रियाँ मुलम्मेका काम अच्छा करती थीं। ब्रह्माकी राजधानी आवा शहर लिखा है। वहाँ भी वह गये थे। आगे ब्रह्माके कपूरीदेश में होकर गये, जहाँ कपूर उत्पन्न होता था और पहाड़ों में सोने-चाँदी की खानें थीं। कोचीन मुल्क की सीमापर व्हावर्ल पहाड के घाटेपर हेवा नगर फिर वह पहुंचे। इस पहाड़ीपर उन्होंने बाहुबलीजीकी प्रतिमा देखी, जिसे बर्मी बुद्धकी मूर्ति मानकर पूजते थे। कार्त्तिक में वहाँ मेला भरता था। इन प्रतिमाओंका एक हाथ उपदेशरुढ उठा लिखा है। अतः यह मूलतः बुद्धप्रतिमा ही है। ब्र० जी को भ्रम हुआ। वहाँ से वींदमदेशके होवीनगर वह पहुंचे। राजा और प्रजा बौद्ध थे। वह लिखते है कि 'इस देश में कहीं-कहीं अमेढना जैनी रहे हैं। उनकी प्रतिमा सिद्ध के आकार की है।' वहाँ से उत्तर की ओर चीनदेश, के गिरगम प्रान्त के ढाकुल नगरमें १६०० कोस चलकर पहुँचे। (?) नगर १८ कोसके

१ 'च्युत्वेन्द्रो मङ्गलावत्यां चक्रीवज्रायुधोऽभवत्।' त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्रम्

२ इन्डो-सिनो जर्नल, भाग १ खंड १

घेरे में लिखा है। राजा प्रजाको जगाड़ा जैनी लिखा है। अवधिज्ञानको विशेष मानते हैं। शेष बौद्धमती है। वहाँ से चलकर खास चीनदेश के मोमम पातके पीकुननगर में पहुँचे लिखा है इसका कोट चौकोण ४० का है। ३२ दरवाजेपर लिखे हैं। पत्थर के मकान—बाजार आदि थे, कलकी गाड़ी सड़कपर और धुयें की पहियेदार किश्ती नहरों में चलती उनने देखी थी। बाजारको पच्चिद्ध महासुन्दर लिखा है। 'सड़कोंपर एक तार सूतके माफिक फौलादका वास्ते डाक के लग रहा है। तीन घड़ीमें हजार कोसकी खबर दे सकता है। सैकड़ों विद्यामन्दिर जारी थे। रसायनका काम अद्भुत यहाँ से शुरू हुआ लिखा है। सारी दुनियाको यहाँ से ही घड़ियाँ बनकर जाती लिखी हैं। वर्णमाला के अक्षर १८००० लिखे हैं। मनुष्यों का रंग गोरा और वे सच्चे लिखे हैं। किला अष्टधातु का बना लिखा है। राजमहल में सुनहरी चित्रकारी व हीरा पन्ना जड़े लिखे हैं। राजाका नाम अलग—शाह बौद्धमती लिखा है। पूरब और पर्वत में रंगकी खान है, जिससे तरह तरहके रंग बनाकर छपाई होती है। कलपुतली (मिलों) से कपड़ा बुना जाता है। रेशमी, ऊनी और मखमली कपड़ा बनता है। सब बौद्धमती हैं, कहीं कहीं कोई जैनी है। कनफूसश नामा अवतार गौतमबुद्ध से एकसौ वर्ष बाद हुआ मानते लिखा है। खास चीनके लोग उसीके मतानुयायी थे। उस समय वहाँ सन् २३४८ चल रहा था। ब्र० लामचीदास वहाँ एक वर्ष ठहरे। बौद्धमंदिर कौमना जहाज देखे थे। ब्र० जीने लिखा है कि "इन देशों चीनमें आठ तरह के जैनी देखने में आये हैं। खास चीनमें तुनावादे जैनी हैं। कोरिया चीनमें पातके हैं और घघेरवाल, नगनारे जैनी हैं। तिब्बत चीनमें मोरनागारे जैनी हैं। और चीन तातार में भी मोरनागारे जैनी हैं। महाचीन में जगाड़ा जैनी हैं। कोचीनमें अमेहना जैनी हैं।" सम्भव है, यह जैनी व्यापार करने की लालच से यहाँ जाकर बस गये थे। पेकिनशहर में तुनावादे जैनियों के ३०० मन्दिर लिखे हैं। सम्भवतः प्रत्येक जैनगृह में चैत्यालय होगा—तभी इतनी संख्या हो सकती है। उनमें प्रतिमा खड्गासन भी हैं। पद्मासन प्रतिमाओं का एक हाथ केशलोंच करता हुआ दिखाया गया है। छत्र हीरा मोती के हैं। सोने चांदी के कल्पवृक्ष बने थे। वे दीक्षा कल्याणक को विशेष पूजते थे। जैनागम भी उन्होंने चीन की बोलचाल में रचा था। धर्मोद्योत खूब था। पश्चिम से वह तातार देश में सागर नगर पहुँचे थे। वहाँ घघेरवाल जैनी मिले, जिनके बिंब मनोहर ३॥ गज ऊंचे और १॥ गज चौड़े, तीर्थंकर के ज्ञान समय जैसे होते थे। बिम्ब के दोनों कर उठे बनाये अर्थात् वरद मुद्रा में थे। आजकल इनको बौद्ध कहा जाता है। घघेरवाले जैनों से पूछा तो बताया कि, यह त्रिलोकेश्वर हैं—समवशरण में लोगों को उठाकर आशीर्वाद का सम्बोधन कर रहे हैं।"

यहाँ से ब्र० जी पश्चिम को चलकर छोटी तिब्बत के मुँगारेश के परजगम नगर गये थे। यहाँ उनको मथनारे जैनी मिले थे। उनके ८००० घर व २००० मंदिर बताये हैं। मंदिरों की गुम्बज तीन, पांच व सात तक लिखी हैं। कलश सोने-चांदी के एक २ पर विराजे

बताये हैं। अरहंत की माता मरुदेवी के बिम्ब हैं। रत्न बरसने के चित्र व १६ स्वप्नों के चित्र भी बने है। गर्भ व जन्म कल्याणक पूजते हैं। वहां से तिब्बत के पन्ल नगर गये थे। वहां का राजा जैनी लिखा है। सोमावरे जैनी वहां थे। हजारों मंदिर नदी किनारे लिखे है। जेठ वदी १४ को मेला होते लिखा था। १५० गज ऊँचा सुनहरी मेरु पर्वत संगमरमर का बन रहा उन्होंने देखा था, जिसमें देवेन्द्रों द्वारा जन्माभिषेक का दृश्य अंकित था। वहां से वह मानसरोवर पहुँचे थे। सिलवन नगर में उनको जैनी मिले, जिनके साथ वह एक वर्ष रहे। उनसे जिनागम सुनकर ग्यारह प्रतिमा के धारी हुये। वहां १०४ मंदिर शिखिरबन्द है। बावन चैत्यालय नन्दीश्वर द्वीप के बने हुये हैं। वहां से आगे हनुवर देश उनको मिला था। सब प्रजा जैनी लिखी है। अनेकों मन्दिर हैं। वहां के लोगों ने रोका, किन्तु ब्र० जी माने नहीं और कैलाश के दर्शन करने का संकल्प करके निकल पड़े। आगे सागर गंग नाला मिला, जिसे ४ कोस गहरा चौड़ा लिखा है। ब्र० जी इसी नाले पर आसन और अनशन माड कर खड़े हो गये। प्रतिज्ञा की कि यदि कैलाश के दर्शन हुये तो अन्नजल ग्रहण करके शेष तीर्थों की यात्रा करूँगा और मुनिव्रत धारण करूंगा-अन्यथा समाधिमरण होगा। इस प्रकार अनशन करते जब चौथा दिन हुआ तब कोई व्यन्तर आकर प्रकट हुआ। उसके अनुग्रह से वह कैलाश पर्वत पर पहुच गये। कैलाश पर पहली टोंक ऋषभदेव की बनाई, जिसमें चरण है। श्वेत टोंक ८०० धनुष ऊंची है। फिर ७२ मंदिर सुवर्ण धातुमई बन्दने की बात लिखी है। उनमें तीन चौबीसी की ७२ प्रतिमायें रत्नमई देव निर्मित विराजमान है। आसपास मुनियों की निर्वाण भूमियां—निषधिकायें बनी हुई है। चारो ओर सोना-रूपा-तांबा की खानें हैं। ४० योजन की परिक्रमा है। इस प्रकार कैलाश की वन्दना करके जिस मार्ग से ब्र० जी गये थे, उसी से लौटकर आये। अट्टारह वर्षों बाद अपने देश को वापस आये। एक वर्ष ठहर कर भारत के तीर्थों की बंदना करने गये। दक्षिण में जैनबद्री में जाकर ठहरे; वहां से कैलाश यात्रा का वर्णन लिखाकर विविध देशों के मंदिरों को भिजवाया।

ब्र० लामचीदास की उक्त यात्रा में शङ्का करने के लिये गुंजाइश नहीं है; फिर भी हो सकता है कि कहीं २ पर उनके वर्णन में अतिशयोक्ति हो। संभव है कि वह कैलाश पर्वत के ऊपर भी न पहुँचे हों और गर्मियों के दिनों में जब बर्फ पिघल जाती है तब मंदिरों को दूर से चमकता हुआ देखा हो। वर्णन सुनकर भी लिख दिया हो। अथवा किसी देव की कृपा से उन्हें दर्शन हुये हों तो भी कोई अनहोनी बात नहीं। सारांश यह कि श्री लामचीदास जी ने यात्रा की अवश्य थी। उनकी मंशा बर्मा, चीन का सैर सपाटा करने की थी। फिर उनको कैलाश यात्रा करने की सुध आई और वह पेकिन से तिब्बत को चले गये। पुराने जमाने में चीन जाने के लिये वही स्थल मार्ग था, जिससे ब्र० जी गये थे। लंका से भी व्यापारी लोग चीन देश को ईस्वी की प्रारंभिक शताब्दियों से स्थल मार्ग

से ही आया जाया करते थे। पहले वह जहाज से मगध देश पहुँचते थे और वहां से वह पटना से चीन को जो विशेष मार्ग गया था, उस पर अन्य सारवाहों के साथ जाया करते थे¹। 'फूलमालपचीसी' में भी चीन महाचीन आदि समुद्र पारके देशों से जैनों के आने का उल्लेख मिलता है।² उधर डॉ० जैमेये टुकी को तिब्बत से सस्क्य मठ (Saskya Monastry) मे १४ वीं शती की एक जैनमूर्ति भी मिली है। अत ब्र० जी का उस प्राचीन मार्ग द्वारा चीन को जाना स्वाभाविक था। हो सकता है कि किन्हीं खास स्थानों के देखने के लिये उन्होंने इस मार्ग का कहीं कहीं पर व्यतिक्रम किया हो।

ब्र० लामचीदास जी ने जिन २ स्थानों का वर्णन लिखा है उनका पता लगाकर वस्तु स्थिति को स्थापित करना आवश्यक है। साधारणत हमें उनके द्वारा उल्लेखित नगरों और देशों म तीन का पता चला है (१) आवा (Ava) निस्सन्देह वर्मा की पुरानी राजधानी इरावती नदी के तट पर स्थित थी। उसम अनेक बौद्ध मंदिर (Pagodas) बने हुए थे। किन्तु अब यह नगर उजाड़ हो गया है। फिर भी इसकी जनसंख्या ८००० थी। (२) ब्र० लामचीदास ने वर्मा से कोचीन होकर चीन पहुचते लिखा है। 'पहले इंडोचीन के समस्त पूर्वीय भाग को जो २३००० वर्गमील था, कोचीन चीन के नाम से प्रसिद्ध था। उसकी राजधानी सैगोन (Saigon) है। (३) पेकिन चीनदेश की राजधानी पी हो (Pei ho) और हुन हो (Hun ho) नामक नदियों के मध्य बसी हुई है। वह चीनी व तातारी आबादी में बारगा दो भागों में विभक्त है। जनसंख्या लगभग १०००००० अनुमानत थी। वाम इमारतें (१) राजमहल, (२) येनयाउर न जूम गडर तातारी भाग म और (३) "स्वर्ग का मन्दिर" (Temple of Heaven) चीनी भाग में दर्शनीय हैं²। ब्र० लामचीदास ने भी इन स्थानों का विशद वर्णन लिखा है। आवश्यकता है कि जैन विद्वानोंको अपने शिल्प और मूर्तिकलाविज्ञानका परिचय कराया जावे और उनको पुरातत्त्वविज्ञानका पारगामी बनाया जावे। तत्पश्चात् उनको बर्मा, चीन, इंडोचीन, जावा, सुमात्रा आदि देशों में खोज करने के लिये भेजा जावे। वे प्रत्येक प्राचीन स्थान के खंडहरों और मूर्तियोंका अध्ययन करें और जैन कीर्तियों का पता लगावें। किन्तु यह तो स्पष्ट है कि चीन में जैनी लोग एक

1 "The people of Iseland (Ceylon) traded to China at the very beginning of our era and by land There can be no doubt that they went first by sea to the country of Magadha There they joined in a body with the caravans of that country and went to China through what ptolemy & the author of Periplu call the great route from Palibothra to China

—Asiatick Researches IX, 41

2 Pears Cyclopadie—Gazetteer of the World pp 491, (Ava) ?
—523 (Cochin China & 604 (Peking)

समय मौजूद थे। उन्होंने अपने धर्मग्रन्थोंका अनुवाद भी चीनीभाषा में किया था। चीनी साहित्य में इसका भी पता लगाना आवश्यक है। आज भी जैन व्यापारीगण फ्रांस, अफ्रीका, जंजीबार, जापान, आदि देशों में फैले हुए हैं और कहीं-कहीं तो वह बस भी गये हैं। अतः चीनदेश में जैनी व्यापारियोंका पहुंचना स्वाभाविक है। जैनकथाओं से स्पष्ट है कि जैनी यात्री रत्नद्वीप, सुवर्णद्वीप, आदि विदेशों मे जहाजों द्वारा व्यापार करते थे।

इस प्रकार संक्षेप में चीन देश से जैनों और जैनधर्मका सम्पर्क स्पष्ट होता है। यदि विद्वज्जन इस विषय में अधिक खोज करें तो विशेष प्रकाश पड़ने की संभावना है। प्रो० टुकी ने चीनी साहित्य में जैन उल्लेखोंका पर्याप्त संग्रह किया था; किन्तु वह भी अप्रकाशित है। समाज यदि ऐसे उपयोगी और आवश्यक कार्यों में धन लगावे तो विशेष धर्मप्रभावना हो!

अलीगंज;
२६-७-४८

जैनकला

[ले०—श्रीयुत प० नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य]

आत्मा की सुकोमल, मञ्जु, मृदुल और मनोज्ञ नैतिक साधन-शृखला कला कहलाती है। मानव शिशु जिस क्षण आँखें खोलता है, उसी क्षण से बाह्य सृष्टि की विविध वस्तुओं की छाप अलक्ष्य रूप से उसके कल्पनाशील मन पर पड़ने लगती है। ससार का एसा कोई परमाणु नहीं, जो उसपर अपना प्रभाव जिना डाले रहता हो। किन्तु विशेषता सस्कार ग्रहण करने वाले की होती है, वह जैसा कल्पनाशील, सेवग और सुबोध होता है, सस्कार के वातावरण को भी उसी रूप म ग्रहण करता है। इस ग्रहीत सस्कार को मनुष्य अपने तक ही सीमित नहीं रखना चाहता है, बल्कि अन्य पर अभि व्यक्त करने के लिये अनिवार्य-सा हो जाता है।

अथवा यों समझिये कि मानव के हृदय और मस्तिष्क की रचना ही कुछ ऐसी है, जिससे ससार का वातावरण उसे प्रभावित करता है। जिस प्रकार चचल पवन जलराशि पर अपना प्रभाव अकित करता है, या मयूख रश्मियाँ जैसे शिलाखण्डों पर अपना शीतोष्ण गुण अकित करती हैं, उसी प्रकार मानव मस्तिष्क में जड़, चेतन पदार्थों के चित्र अकित होते रहते हैं। परन्तु मनुष्य की आत्मा मे नैसर्गिक प्रेरणा होती है कि वह उन चित्रों को अभिव्यक्त करे। अभिव्यञ्जना की यही प्रणाली कला है।

भारतीय कला की उन्नति मे जैनाचार्यों का स्थान भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कारण कोई भी धर्म तभी अपना अस्तित्व रख सकता है जब उसकी कला उच्च कोटि की हो। सांस्कृतिक महत्ता और गौरव गरिमा ही धर्म का प्राण है। जैनेतर विचारक और विवेचकों ने समय-समय पर जैनदर्शन और जैनकला की मुक्तकण्ठ से प्रशसा की है। यद्यपि भारतीय कला का साम्प्रदायिक वर्गीकरण जैनशैली, बौद्धशैली और ब्राह्मण शैली का कला का नहीं हो सकता है। बूलर[1] का कथन है कि भारतीय कला में साम्प्र दायिकता नहीं है। बौद्ध, जैन और ब्राह्मण सभी की भावना का स्रोत एकही है। कुमार स्वामी ने[2] हिस्ट्री इण्डियन एण्ड इण्डोनेशन आर्ट म बताया है कि शुद्धशैली के हिसाब से प्रान्तीय भेद या साम्प्रदायिक भेद कला मे सभव नहीं। दार्शनिक भेद होने

1 Jain Art in the North P 247

2 History of Indian and Indonesian Art P 106 the Jaina Stupa and other Antiquities of Mathura Int p 6 Mehta, Studies in Indian Painting pp 1 2; Percy Brown Indian Painting PP 38 51 History of Indian Architecture

के कारण कला में कुछ अन्तर आया है, पर कला का वर्गीकरण समय और भूगोल के अनुसार ही हो सकता है। भारत के प्रधान तीनों धर्म—जैन, बौद्ध और ब्राह्मण में कला की भावना आन्तरिक सौन्दर्याभिव्यक्ति की ही रही है, अतः कला के शैलीगत भेद मानना उचित नहीं।

जैनधर्म निवृत्ति प्रधान धर्म है, इसमें इतर धर्मों की अपेक्षा अनेक विशेषताएँ हैं। धर्म की विशेषता के कारण जैन धर्मानुयायी कलाकारों की अभिव्यञ्जना में भी पर्याप्त अन्तर है। यदि प्रतीकों के भेद से या अन्तर्जगत् के भावविशेष को व्यक्त करने की प्रणाली के भिन्न होने से जैनकला को अलग स्थान दिया जाय तो अनुचित न होगा। जैन आदर्श वीतरागता का है, इसलिये जैन कलाकार प्रत्येक ललित कला में इसी आदर्श की अभिव्यञ्जना करता है। उसका ध्येय कला द्वारा लौकिक एषणा की तृप्ति करना नहीं होता, किन्तु शान्तरस का प्रवाह बहाकर द्रष्टा के हृदय में आध्यात्मिक भावना को जागृत करना है। जैन कलाकारों ने पत्थर या कागज के माध्यम द्वारा आध्यात्मिक रहस्य के उद्घाटन में आशातीत सफलता प्राप्त की है।

अभिव्यञ्जना की दृष्टि से जैनकला के दो भेद किये जा सकते हैं—स्थित कला (The Static Mood of art) और गतिशील कला (The dynamic mood of art) प्रथम में क्रम और औचित्य की प्रधानता तथा द्वितीय में गति, आरोहावरोह एवं भावव्यञ्जना की प्रधानता रहती है। स्थित कला के वास्तु, तक्षण और चित्र ये तीन भेद एवं गतिशील कला के संगीत और काव्य ये दो भेद है।

वास्तुकला—इस कला में कलाकार लोहा, पत्थर, लकड़ी और ईंट आदि स्थूल पदार्थों के सहारे अपने अमूर्त्तिक भावों के सौन्दर्य की अभिव्यञ्जना करता है। जैनों ने इस कला में प्राचीनकाल से ही अधिक उन्नति की है। गिरनाट[1] ने हिन्दुकला के बहुत से स्थापत्यों में जैन कला का पूर्ण प्रभाव बताया है। जहाँ तक वास्तुकला का सम्बन्ध है जैनकला अद्वितीय है। वास्तुकला में जैनधर्म की सुन्दर[2] अभिव्यक्ति की गई है। विशाल पर्वतों पर प्रकृति के रम्य वातावरण में श्रेष्ठ मन्दिरों का निर्माण कर जैनों ने वस्तुत अपनी कला प्रियता का परिचय दिया है। श्री सम्मेदशिखर (Parshwanath Hill), गिरनार[3] और शत्रुञ्जय के निर्जन प्रदेशों की जैन स्थापत्य कला अपनी आभा और चमक से प्रत्येक दर्शक के मन को बरबस अपनी ओर खींच लेती है।

1 Guerinat, Lo Religion Dgain
2 Fergusson, History of India[illegible] h[illegible]ecture, ii, p. 24.
3 Elliot, Hinduism ar[illegible]

प्राचीन भारत की स्थापत्य कला मे मथुरा का जैनस्तूप भी शिल्पतीर्थ का सर्वोत्कृष्ट नमूना है। यहाँ के रमणीय दृव्यप्रसाद, उनके सुन्दर तोरण, वेदिकास्तम्भ, उष्णाप पाषाण, उत्फुल्ल कमलों से सुसज्जित सूची, उत्कीर्ण आयागपट्ट आदि जैनकला के गौरव हैं। चहार दीवारी के वेदिका-स्तम्भो पर अनेक सुगालवाली नर्तिकाएँ अंकित हैं, जो मथुराकला की अनुपम देन है। इन रमणियो के सुन्दर रत्नजटित वस्त्राभूषणों की कारीगरी को देखकर दाँतों तले अगुली दबानी पडती है। चपक, आम्र, अशोक और बकुल के उद्यानो में क्रीडासक्त अथवा स्नान और प्रसाधन द्वारा शृंगार मग्न देवियो को देखकर जैनकला का गौरव सहज ही हृदयगम हो जाता है। इन वेदिकाओं को सुपर्ण और किन्नर देवों के पूजा दृश्यो ने और भी रमणीय और भावगम्य बना दिया है। बौद्ध स्तूप के पास जो दो बडे देवप्रसादों के भग्नावशेष उपलब्ध हुए हैं, वे इस्वी पूर्व दूसरी शताब्दी के हैं। डा० बूलर और स्मिथ[1] आदि विद्वानो ने जैन स्तूप की सुन्दर कारीगरी की मुक्तकण्ठ से प्रशसा करते हुए उसे भारतीय शिल्प का तीर्थ बताया है। वेदिकास्तम्भ और सूचीदलो की सजावट नीरस हृदय को भी सरस बना देती है।

विशेषज्ञो ने स्थापत्यकला को नागर (उत्तरी), बेसर (पूर्वी) और द्राविड इन तीन भागों मे बाँटा है। दक्षिण के जैनमन्दिरों मे होयसल या चालुक्य और द्राविड इन दोनों शैलियों का प्रभाव पाया जाता है। चन्द्रगिरि के पार्श्वनाथ वस्ति, कत्तले वस्ति और चामुण्डराय वस्ति जैनकला के सुन्दर निदर्शन हैं। कत्तले वस्ति १२५×४० फुट क्षेत्रफल का है। इसमे गर्भ गृह के चारो ओर प्रदक्षिणा है। नवरग से सटा हुआ एक मुख मण्डप भी है और बाहरी बरामदा भी। ये सभी मन्दिर द्राविड शैली के उत्कृष्ट नमूने हैं। फर्ग्यूसन[1] ने चन्द्रगिरि की १५ वस्तियों—मन्दिरो की स्थापत्य कला की प्रशसा करते हुए कहा है कि इनकी नक्काशी उत्तर भारत की स्थापत्य कला से सर्वथा भिन्न है। इन मन्दिरो की बनावट कलापूर्ण है द्राविड़ और चालुक्य कलाओ के मिश्रित रूपकी अभिव्यञ्जना प्रशसनीय है।

दक्षिण भारत मे इ० पू० ३ से ई० १३ वीं शताब्दी तक जैन शासन रहने के कारण जैनकला की खूब उन्नति हुई है। तामिल और कन्नड दोनो ही प्रान्तों मे सुन्दरतम जैन मन्दिरो का निर्माण हुआ है। पल्लव और गग राजाओं ने अपने राज्यकाल में भव्य चैत्यालय और दिव्य स्तम्भो का निर्माण कराया था। मन्दिरों की दीवाल और छतो पर नक्काशी और पच्चीकारी का भी काम किया गया था। कइ मन्दिर दो मजिले और चारो ओर दरवाजे वाले थे। पाषाण के अतिरिक्त लकडी के जिनालयों की प्रथा

1 Fergusson op cit, p 75 172 and Burgess Digambara Jain Iconography " Ind, Ant, XXXII p 95 96

भी प्रारम्भ हो गई थी। जैन[1] वास्तुकला की यह प्रणाली नागर या आर्यावर्त की थी। इस कला के मन्दिरों का आकार चौकोर होता था तथा ऊपर शिखर रहता था। ई० ६–७ वीं सदी तक इसी प्रणाली पर मन्दिरों का निर्माण होता रहा। पश्चात् वेसर —समकोण आयताकार मन्दिर बनने लगे, इन मन्दिरों के शिखर ऊपर-ऊपर हीन-हीन होते जाते थे और अन्त में अर्द्ध गोलाकार गुम्मज बना होता था। सातवीं शताब्दी के आरम्भ में इस शैली के मन्दिर बादामी, ऐहोले, मामल्लपुर, कांची आदि स्थानों पर बनाये गये थे। विद्वानों का मत है कि समवशरण रचना का परिष्कृत रूप वेसर प्रणाली है।

इसके सिवा चतुर्मुख मन्दिर[2] भी बनाये जाते थे। इन मन्दिरों की बनावट के बारे में कहा गया है कि इनके बीच में एक कमरा होता था, जिसके चारो ओर बड़े दरवाजे एवं बाहर बरंडा तथा उसारा होता था। छत सपाट पाषाण से पाट दी जाती थी और बड़े-बड़े स्तम्भों पर टिकी रहती थी। तीन कोठरियों के मन्दिरों का प्रचार भी दक्षिण में था, इनमें तीर्थंकरों की मूर्त्तियाँ यक्ष-यक्षिणी सहित विराजमान रहती थीं। बर्जेस[3] और फर्ग्यूसन का कथन है कि ७-८ वीं सदी में दक्षिण भारत में जैन-कला का जो आकार-प्रकार प्रचलित था, वह उत्तर की ओर बढ़ा और साथ ही द्राविड़ चिन्हों को भी लेता गया। जैन-वास्तु-कला सौन्दर्य के साथ-साथ उपासना का मूर्त्तिमान रूप है।

जैन स्तूप और स्तम्भ—जैन वास्तुकला में स्तूपों का स्थान भी श्रेष्ठ है। ये स्तूप केवल धार्मिक चिन्ह ही नहीं थे, बल्कि सिद्ध परमेष्ठी के प्रतीक होने से पूज्य थे। स्तूप रचना की प्रणाली जैनियों मे मौर्य सम्राट् अशोक से भी पहले प्रचलित थी।

मण्डप स्तम्भ द्राविड कला में जैनों की अपनी पृथक् वस्तु है। ये मण्डप पाँच स्तम्भों के होते थे। चारों कोनों के साथ-साथ बीच मे भी एक स्तम्भ रहता था। यह बीच का स्तम्भ कला की दृष्टि से बहुत ही सुन्दर बनाया जाता था। फर्ग्यूसन ने इस मण्डप स्तम्भ की बड़ी प्रशंसा की है। मण्डप स्तम्भों के अतिरिक्त सामान्य स्तम्भ दो प्रकार के जैनियों में प्रचलित थे—मानस्तम्भ और ब्रह्मदेव स्तम्भ। मानस्तम्भ में ऊपर चोटी पर एक छोटी सी वेदी रहती है, जिसमें चतुर्मुख प्रतिमा विराजमान रहती है। ब्रह्मदेव स्तम्भ में चोटी पर ब्रह्म की मूर्त्ति स्थापित की जाती है। यह स्तम्भ एक समूचे

१ सक्षिप्त जैन इतिहास तृ० भाग द्वि० खंड पृ० १३४

२ संक्षिप्त जैन इतिहास भा० ३ खं० २ पृ० १३५;

३ दी गंगज् ऑफ तालकाड पृ० २२२—२२६

पाषाण का होता है और इसके निचले भाग में नक्काशी का काम किया रहता है। एहोले, इलोरा आदि स्थानों पर सुन्दर मानस्तम्भ वर्तमान थे। इलोरा की इन्द्रसभा के सम्मुख बना हुआ मानस्तम्भ वास्तुकला की दृष्टि से अपूर्व है। श्री वेलहौस सा० ने मानस्तम्भों की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि "जैन स्तम्भों की आधार शिला और शिखर बारीक और सुन्दर समलंकृत शिल्पचातुर्य की आश्चर्यमय वस्तु हैं। इन सुन्दर स्तम्भों की शानभरी प्रभा से कोई भी वस्तु मुकाबिला नहीं कर सकती है। ये प्राकृत सौन्दर्य के अनुरूप ही पूर्ण और पर्याप्त बनाये गये हैं। इनकी नक्काशी और महत्ता सर्वप्रिय है[1]।"

राजनृपने कान्पोले नामक स्थान में अद्वितीय जिनमंदिर बनवाया था जिसकी तीन शिखरें थीं। उसने उपासकों के विश्रामगृह के लिये एक सोने की शिखरवाला मन्दिर तथा उसके सामने मानस्तम्भ बनाया था। ये सभी मानस्तम्भ शिल्पकला के अद्भुत नमूने थे, इनकी नक्काशी, लटकन और गुम्मजें अनूठे ढंग की बनी हुई थीं।

दक्षिण के अलावा उत्तर भारत में भी आबू के जैन मन्दिर जैसे सुन्दर वास्तुकला के नमूने बनाये गये थे। आबू के जैन मन्दिरों की प्रशंसा करते हुए कर्नल टॉडने अपनी ट्रैवल्स इनवेस्टर्न इण्डिया नामक पुस्तक में लिखा है। 'हिन्दुस्तान भर में यह मन्दिर सर्वोत्तम है और ताजमहल के सिवा कोई दूसरा स्थान इसकी समता नहीं कर सकता'। मिस्टर फर्ग्यूसनने पिक्चर्स इलस्ट्रेशन आफ इन्नोसेण्ट आर्कीटेक्चर इन हिन्दुस्तान नामक पुस्तक में लिखा है—"इस मन्दिर में, जो संगमरमर का बना हुआ है, अत्यन्त परिश्रम सहन करनेवाली हिन्दुओं की टाँकी से फीते जैसी सूक्ष्मता के साथ ऐसी आकृतियाँ बनायी गयी हैं, जिनकी नकल कागजपर बनाने में कितने ही समय और परिश्रम कर भी मैं नहीं कर सकता हूँ"।

इस प्रकार जैन वास्तुकला के नमूने एक से एक बढ़कर समस्त भारत में वर्तमान हैं। जैन इमारतों के सौन्दर्य की सूक्ष्मता, गुम्बज, तोरण, स्तम्भ, छत और गोखों की सूक्ष्म नक्काशी मनको मुग्ध करती है। मन्दिर निर्माण के सम्बन्ध में जैनाचार्योंने जितने नियम प्रचलित किये हैं उनके देखने से मालूम होता है कि मन्दिर निर्माण शैली के अनेक भेद थे।

धुव धन्न-जया नंद खर-कंत मणोरमा सुमुह दुमुहा।
कूर सुपक्ख धणद खय आकन्द विउल विजया गिहा ॥

—वास्तुसार गा० ७८

---

1 Walhouse IA p 39

अर्थात्—ध्रुव, धान्य, जय, नन्द, खर, कान्त, मनोरम, सुमुख, दुर्मुख, क्रूर, सुपक्ष, धनद, क्षय, आक्रन्द, विपुल और विजया ये १६ प्रकार के प्रासाद होते हैं। शाला,[1] अलिन्द, गुजारी, दीवाल, पट्ट, स्तम्भ और झरोखे के भेदों से प्रासाद ६६७० प्रकार के बनाये जाते है।

प्रतिष्ठासार संग्रह में मन्दिर बनाने के स्थानोंका उल्लेख निम्न प्रकार है—

जन्म-निष्क्रमणस्थानज्ञाननिर्वाणभूमिषु ।
अन्येषु पुण्यदेशेषु नदीकूले नगरेषु च ॥
ग्रामादिसन्निवेशेषु समुद्रपुलिनेषु च ।
अन्येषु वा मनोज्ञेषु कारयेज्जिनमन्दिरम् ॥

इसी प्रकार चैत्यालय के सम्बन्ध में भी उल्लेख मिलता है—

सिंहो येन जिनेश्वरस्य सदने निर्मापितो तन्मुखे ।
कुर्यात्कीर्त्तिमुखं त्रिशूलसहितं घण्टादिभिर्भूषितम् ॥
तत्पार्श्वे मदनस्य हस्तयमलं पञ्चाङ्गुलीसंयुतम् ।
केतुस्वर्णघटोज्ज्वलश्च शिखरं केत्वाय निर्मापितम् ॥

वास्तु निर्माण के और भी अन्य प्रकार के नियम बताये गये है, जिन नियमों के देखने से जैन वास्तुकला की महत्ता का सहज अनुमान किया जा सकता है।

मूर्त्तिकला—वास्तुकला के अनन्तर मूर्त्तिकला का कार्य आरम्भ होता है। वास्तुकला जिस आभ्यन्तरिक आत्मा की ओर संकेत करती है, मूर्त्तिकला उसीको प्रकाशित करती है। मूर्त्तिकला में आभ्यन्तरिक आत्मा और बाहरी साधनों में समन्वय रहता है। अतएव सफल मूर्त्तिकला में आध्यात्मिक और शारीरिक सौन्दर्य की समन्वित अभिव्यञ्जना की जाती है। मानव स्वभावतः अमूर्त्तिक गुणों के स्तवन से संतोष नहीं करता, उसका भावुक हृदय एक साकार आधार चाहता है, जिसके समक्ष वह अपने भीतर की बातको कह सके और जिसके गुणोंको अपने जीवन में उतार कर संतोष प्राप्त कर सके। मूर्त्तिकला के आविष्कार का कारण बहुत कुछ उपर्युक्त प्रवृत्ति ही है। जैन सम्प्रदाय में आत्मिक गुणों के चिन्तन के लिये तीर्थङ्करों और लौकिक अभ्युदय की प्राप्ति के लिये यक्ष-यक्षणियों की मूर्त्तियाँ प्राचीन काल में ही बनती थीं। भूगर्भसे जितनी प्राचीन जैन प्रतिमाएँ निकली है, उतनी अन्य सम्प्रदाय की नहीं। ई० पू० ५-६ सौ वर्ष पहले की भी जैन प्रतिमाएँ उपलब्ध हो चुकी हैं। जनमूर्त्ति की रूपरेखा निम्न प्रकार है—

---

१ ओवरय-अलिंद-गई गुजारि-भित्तीण-पट्ट-थंभाण ।
जालियमंडवाणय भेएण गिहा उवज्जंति ॥
—वास्तुसार गा० ६९

शान्तप्रसन्नमध्यस्थनासाग्रस्थाविकारदृक् ।
सम्पूर्णभावरूढानुविद्धाग लक्षणान्वितम् ॥
रौद्रादिदोषनिर्मुक्तं प्रातिहार्यांकयक्षयुक् ।
निर्माप्य विधिनापीठे जिनबिम्बं निवेशयेत्[१] ॥

अर्थात्—शान्त, प्रसन्न, मध्यस्थ, नासाग्र अविकारी दृष्टिवाली, अनुपमवर्ण, वीतरागी, शुभ लक्षणों से सहित, रौद्र आदि बारह दोषों से रहित, अशोक वृक्ष आदि आठ प्रातिहार्यों से युक्त, और दोनों तरफ यक्ष-यक्षणियों से सहित जिन प्रतिमा को विधिपूर्वक सिंहासन पर विराजमान करना चाहिये। प्रतिमा बनानेवाले शिल्पी को जिन प्रतिमा में वीतराग दृष्टि, सौम्य आकृति और निश्चलता अनिवार्यतः रखनी चाहिये।

वराहमिहिरने भी जिन प्रतिमा का लक्षण बतलाते हुए कहा है—

आजानु'लम्बबाहुः श्रीवत्साङ्कः प्रशान्तमूर्तिश्च ।
दिग्वासास्तरुणो रूपवांश्च कार्योऽर्हतां देव ॥

अर्थात्—अर्हन्त की मूर्त्ति प्रशान्त, श्रीवत्स चिन्ह से अंकित, तरुण, लम्बी भुजा वाली और नग्न होती है।

अतएव स्पष्ट है कि जैनमूर्त्तियों के निर्माण के सम्बन्ध में केवल जैनग्रन्थकारोंने ही नियम नहीं बनाये थे, किन्तु जैनेतरोंने भी। आजतक जितनी मूर्त्तियाँ उपलब्ध हुई हैं, उन्हें कलाशैली की दृष्टि से तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। उत्तरभारतीय, दक्षिणभारतीय और पूर्वभारतीय। प्राचीन समय में जैनधर्म के प्रधान केन्द्र पाटलीपुत्र, मथुरा, उज्जैन और कांची थे। इन स्थानों में जैनों का संस्कृति विशेषरूप से वर्तमान थी। उत्तरभारतीय—गुजरात, पंजाब, संयुक्तप्रान्त और मध्यभारत में निर्मित प्रतिमाएँ एक ही शैली की होती थीं, शरीर गठन, मुखाकृति सन्निवेश आदि की दृष्टि से एक ही वर्ग में रक्खे जा सकते हैं। दक्षिण भारत की मूर्त्तियों में द्राविड़ कला की छाप रहने के कारण शरीरावयव, आकृति आदि में उत्तरभारतीय कला की अपेक्षा भिन्नता रहती है। इसी तरह पूर्वभारत की मूर्त्तियों में भी यही। के शिल्पियों की अपनी शैली के कारण कुछ अन्तर रहता है। अबतक भूगर्भ से नाना ही शैली की प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं।

पटना[३] म्यूजियम में नं० ८०३८ की भग्नमूर्त्ति है। इस मूर्त्ति पर चमकदार पालिस है, यह पालिस इतनी सुन्दर और ओजपूर्ण है कि आज भी ज्यों की त्यों बनी है।

१ प्रतिष्ठासारोद्धार पृ० ७ श्लो० ६२-६४
२ देखें—वाराही संहिता अ० ५० श्लो० ४५
३ देखें—जैन सिद्धान्त भास्कर ११ भाग किरण २

अशोक के शिल्पों की तरह यह चुनार के पत्थर की है, इसके ऊपर किसी मसाले की पालिस नहीं है, वल्कि पत्थर घोंट कर इतना चिकना और चमकदार वना दिया गया है, जिससे कॉच के समान चमक आगई है। यह मूर्त्ति निस्सन्देह मौर्य कालीन है। इस म्यूजिम में और भी अनेक मूर्त्तियाँ हैं, जो पूर्व भारत की शैली की कही जा सकती हैं।

उत्तर भारतीय मूर्त्तियों के नमूने मथुरा, लखनऊ, प्रयाग आदि स्थानों के म्यूजियमों में मिलते है। प्राचीन समय में गान्धार की भॉति मथुरा की शैली भी अपनी निजी थी। मथुरा में सफेद चित्तीवाले लाल रवादार पत्थर की मूर्त्तियॉ वनती थी। इस शैली में भरहुत की अलंकरण शैली और सॉची की उन्नत शैली इन दोनों का समन्वय था। श्री रायकृष्णदास ने लिखा है कि "मथुरा[१] की शुंगकालीन कला मुख्यतः जैन सम्प्रदाय की है, किन्तु उसमें ब्राह्मण विषय भी पाये जाते है।" इससे स्पष्ट है कि मथुरा में जैन मूर्त्तिकला के सम्बन्ध में वड़ा भारी काम हुआ है। मौर्यकाल और गुप्तकाल में पूर्वभारतीय और उत्तरभारतीय जैन मूर्त्तिकला का वड़ा भारी विकास हुआ है। श्री वासुदेव उपाध्याय ने लिखा है "गुप्त लेखों में ऐसे वर्णन मिलते है जिनसे ज्ञात होता है कि उस समय जैन धर्मावलम्बी भी पर्याप्त संख्या में थे। गुप्तकलाकारों ने जैन मूर्त्तियों को उसी सुन्दरता के साथ तैयार किया है। मथुरा में २४ वे तीर्थंकर वर्धमान महावीर की एक मूर्त्ति मिली है जो कुमारगुप्त के समय में तैयार की गई थी। महावीर पद्मासन मारे ध्यानमुद्रा में दिखलाये गये है। आसन के नीचे लेख खुदा है तथा निचले भाग में चक्र वना हुआ है। चक्र के दोनो तरफ मनुष्यों की आकृतियॉ है। स्कन्दगुप्त के शासन काल में कहोम (जिला गोरखपुर) नामक स्थान में एक तीर्थंकर की मूर्त्ति स्थापित की गई थी"[२]।

अतएव स्पष्ट है कि लखनऊ और प्रयाग के म्यूजियमों में अनेकों गुप्तकालीन जैन मूर्त्तियॉ हैं जिन्हें उत्तरभारतीय कला की कोटि में रखा जा सकता है। इन मूर्त्तियों की सजीवता और स्वाभाविकता उच्च कोटि की है। ई० पू० १८८-३० ई० शुंगकाल में उत्तरीय और पूर्वीय मूर्त्तिकला का मिश्रण खण्डगिरि और उदयगिरि के मूर्त्तिशिल्प में मिलता है। श्री रायकृष्णदास जैसे कलापारखीने लिखा है "उड़ीसा के उदयगिरि और खण्डगिरि में इस काल की कटी हुई सौ के लगभग जैन गुफाऍ हैं जिनमे मूर्त्ति शिल्प भी है। इनमें से एकका नाम रानीगुफा है। यह दोमंजिले है और इसके द्वारपर मूर्त्तियोका एक लम्बा पट्टा है जिसकी मूर्त्तिकला अपने ढंग की निराली है। उसे देखकर यह भान होता है कि

१ देखे—भारतीय मूर्त्तिकला पृ० ५९

२ गुप्त साम्राज्य का इतिहास पृ० २९०

वह पत्थर की मूर्त्ति न होकर एक ही साथ चित्र और काठपर की नकाशी है। उड़ीसा में आज भी काठ पर ऐसा काम होता है जो रंग दिया जाता है और तब उभरा हुआ चित्र जान पड़ता है। वर्तमान उदाहरण से पता चलता है कि वहाँ ऐसा काम उस समय भी होता था जो इस पट्टेका आधार था। इस दृष्टि से यह पट्टा महत्त्व का है"[1]।

दक्षिणभारतीय जैनमूर्त्ति कलाका विकास भी ई० पू० ३००—१२०० ई० तक माना जा सकता है। इतनी लम्बी अवधि में अनेक जैनधर्मानुयायी शासक हुए, जिन्होंने धर्मप्रेम से प्रेरित होकर अनेक मन्दिर और मूर्त्तियोंका निर्माण कराया। यद्यपि जैन मूर्त्तिकला के उत्तरीय और दक्षिणीय ढाँचे में कोई मौलिक अन्तर नहीं, फिर भी स्थान भेद से थोड़ा-सा अन्तर मिलता ही है। अलगामलै में खुदाई से जो जैनमूर्त्तियाँ उपलब्ध हुई हैं, उनका कलात्मक विश्लेषण करनेपर पता लगता है कि उन मूर्तियों की सौम्याकृति द्राविड़कला में अद्भुत मानी जा सकती है। इन मूर्त्तियोंका समय ई० पू० ३००-२०० के लगभग बताया जाता[2] है। सुदूर प्राचीन काल में जैनमूर्त्तियों की केवल रूपरेखा (out line) ही बनायी जाती था, शिल्पी किसी विशाल पत्थर में केवल आकृति चिन्हित कर देता था। कुछ समय के उपरान्त पत्थर काटकर मूर्त्ति गढ़ने की प्रथा प्रचलित हुई। श्रवणबेल्गोला की प्रसिद्ध मूर्त्ति के सम्बन्ध में अनेक विद्वानोंका मत है कि चामुण्डराय के पूर्व इस मूर्त्ति की रूपरेखा ही अंकित थी। चामुण्डरायने उसी रूपरेखा के आधारपर मूर्त्तिका गढ़न कराया है। यह मूर्त्ति ५७ फुट ऊँची, विशालकाय खड्गासन है और संसार की अद्भुत और रमणीय वस्तुओं में से एक है। इसके सिर के बाल घुंघराले, कान बड़े, और लंबे, वक्षस्थल चौड़ा, नीचेको लटकती हुई विशाल भुजाएँ एवं कञ्चित् कटि क्षीण हैं। मुखपर स्निग्ध कान्ति और अगाध शान्ति है। घुटनों से कुछ ऊपर तक बमीठे बनाये गये हैं जिनसे सर्प निकलते हुए अंकित किये गये हैं। दोनों पैर और भुजाओं में माधवीय लताएँ लिपटी हुई हैं, इतने पर भी मुख से दिव्य आभा, अद्भुत शान्ति, तथा दुर्धर तपका तेज टपकता है। यह मूर्त्ति तपस्याका साक्षात् अवतार मालूम होती है।

सिंहासन प्रफुल्लित कमल के आकार का है, इस कमलपर बायें चरण के नीचे तीन फुट चार इंचका माप खुदा हुआ है। कहा जाता है कि इस मापको अठारहगुना कर देनेपर समग्र मूर्त्तिका परिमाण निकल आता है। यह मूर्त्ति समस्त विश्व की अपूर्व वस्तु है, इसकी जोड़ी की दूसरी मूर्त्ति आज संसार में किसी भी कोने में नहीं है।

दक्षिण में बाहुबलि स्वामी की दो मूर्तियाँ और हैं एक कारकल में और दूसरी वैणूर में। प्रथम स्थान की मूर्त्ति ४१ फीट ५ इंच ऊँची और १० फीट ६ इंच चौड़ी है

1 भारतीय मूर्त्तिकला पृ० ६० ६१

2 See Madras Epigraphical reports 1907, 1910

और दूसरे स्थान की ३५ फुट ऊँची है। ये दोनों मूर्त्तियाँ भी अपने अनुपम सौन्दर्य, अगाध शान्ति और अद्भुत प्रभाव से अपनी ओर प्रत्येक व्यक्ति को आकृष्ट कर लेती हैं। इस प्रकार दक्षिणभारतीय जैन मूर्त्तिकला के अनेक अनुपम निदर्शन वर्तमान हैं।

जैन मूर्त्तिकला की अभिव्यञ्जना शक्ति—सत्य, शिव और सुन्दर इन तीनों गुणों की समन्वित रूप में अभिव्यक्ति होना ही जैन मूर्त्तिकला की विशेषता है; पर जैनकला का सत्य अन्य सम्प्रदायों की कला के सत्य से भिन्न है। वीतरागता—विकारों का अभाव यह त्रैकालिक सत्य है; क्योंकि अजर, अमर एवं अविनाशी अखण्ड आत्म तत्त्व का स्वभाव वीतरागता है, इसलिये त्रैकालिक अबाधित सत्य वीतरागी भावनाओं को उद्बुद्ध करना ही हो सकता है। शिव भी जैनों का लोकहित तक ही सीमित नहीं है, किन्तु उनका शिव अमर आत्मा की अनुभूति या विकार रहित आत्म स्थिति है। जैन मूर्त्तियाँ इसी शिव की अभिव्यञ्जना करती हैं।

जैन कला का सौन्दर्य भी लौकिक सुन्दर से रहित लोकातीत है या बाह्य सौन्दर्याकांक्षा से रहित आन्तरिक आत्मिक गुणों की अभिव्यक्ति है।

जैन मूर्त्तियों की मुद्रा योगमुद्रा है, जिसका अर्थ आत्मिक भावनाओं की अभिव्यक्ति है। नासाग्र दृष्टि निर्भयता और संसार के प्रलोभनों के संवरण की सूचक; सिर, शरीर और गर्दन का एक सीध मे रहना अतुलबल, आत्मप्रतिष्ठान, और जगत की मोह माया से पृथकत्व का सूचक तथा पद्मासन प्रतिमा मे बाईं हथेली के ऊपर दाईं हथेली का खुला रहना स्वार्थ त्याग, चरम सन्तोष, आदान-प्रदान की भावना से रहित, जिससे राग द्वेष की उत्पत्ति होती है; और खड्गासन मूर्त्ति मे आजान बाहुओं का लटकना कृतकृत्य, संसार के गोरख-धंधे से रहित, मानसिक और शारीरिक संघर्ष को छिन्न करने में संलग्न, प्रकाण्ड तथा विस्तृत विश्व में अकेला ही अपने सुख, दुःख का भोक्ता यह जीव है की भावना के संदेश का सूचक, प्रशान्त मुखमुद्रा सर्वत्र शान्ति और प्रेम के साम्राज्य की व्यञ्जक एवं आभरण और वस्त्र हीनता अपनी कमजोरियों तथा यथार्थता को प्रकट करने की भावना की सूचक हैं। इस प्रकार जैन मूर्त्तियाँ अपनी अभिव्यञ्जना द्वारा संसार मरुभूमि में मृगतृष्णा से संतप्त मानवको परम शान्ति और कर्तव्य परायणता का संकेत करती हैं, उनका यह संकेत निर्जीव नहीं, वरन् सजीव है।

शायद कलाप्रेमी सहृदयों के चित्त में यह प्रश्न उठे कि जैन मूर्त्तियों में शारीरस्थान विद्या (एनाटोमी) के लिये कोई स्थान नहीं, किन्तु जैनमूर्त्ति शिल्प में देहका खाका, उसका गठन, नाप-जोख आदि बातें मूर्त्ति की आकृति, मुखमुद्रा और उसकी विविध गतिभंगियों के निरीक्षण से ज्ञात हो जाती हैं। जैनकला में आन्तरिक

भावनाओं द्वारा विशेष विशेष शारीरिक भंगिमाएँ प्रकट की गयी है। जैनमूर्ति की प्राणछन्द की रूपरेखा पर से ही शरीर की भावसमता, व्याका, मूलमत्व आदि बातें लक्ष्य की जा सकती हैं। प्राणछन्द के द्वारा ही शरीर के यथावत् दर्शन किये जा सकते हैं। अत जैन तीर्थङ्करों की तप प्रधान मूर्त्तियाँ तपोबल के साथ आराधक के समक्ष शान्ति, अभय, और कला के दिव्य आदर्शको उपस्थित करती हैं। इस प्रकार जैन मूर्तिकला मे युग-युग की संस्कृति और आध्यात्मिकता के भावोंका सन्निवेश है, जिन बातों को कलाकार कहना चाहता था, जैनमूर्त्तियाँ उन बातों को अभिव्यक्त करने मे पूर्ण समर्थ हैं।

जैन चित्रकला—विश्व की ललित कलाओं मे चित्रकला का अद्वितीय स्थान है। इस कला द्वारा मानव जाति के व्यापक और गम्भीर भावोंको जनता के समक्ष रखा जा सकता है। जैनो ने प्राचीन काल मे ही हृदयगत मूल्यवान् भावो के प्रवाह का व्यक्तीकरण इस कला द्वारा किया है। जैन शिल्पियो ने मूक भाषा मे अपने मस्तिष्क के विचारों और हृदय की गूढतम भावनाओं के प्रवाहको रंग और कूची के सहारे कागज के माध्यम द्वारा प्रवाहित किया है। यद्यपि कला मर्मज्ञोंने जैन चित्रकलाको पृथक् स्थान नहीं दिया है, उसे विशेष विशेष भौगोलिक परिस्थितियों के अनुसार भारतीय कला के अन्तर्गत ही परिगणित किया है, फिर भी इतना तो सभी ने स्वीकार किया है कि जैन चित्रो की अभिव्यञ्जना अपने तौर की पृथक् है। चित्रो का सम्बन्ध धर्म के साथ जोड देने पर भी जैन चित्र इतनी बातोंको प्रकट करने मे समर्थ हैं।

श्रीनानालाल चिमनलाल मेहता ने जैन चित्रकला के सम्बन्ध में लिखा है—"परन्तु इतना अवश्य है कि जैन चित्रो मे एक प्रकार की निर्मलता, स्फूर्ति और गतिवेग है, जिससे डा० आनन्दकुमार स्वामी जैसे रसिक विद्वान् मुग्ध हो जाते हैं। इन चित्रो की परम्परा अजन्ता, एल्लोरा, बाघ, सित्तनवासल के भित्ति चित्रो की है। समकालीन सभ्यता के अध्ययन के लिये इन चित्रों से बहुत कुछ ज्ञानवृद्धि होती है। खासकर पोशाक, सामान्य उपयोग मे आती हुई चीजें, आदि के सम्बन्ध म अनेक बातें ज्ञात होती हैं[1]"। स्मिथ और ब्राउनने भी जैन चित्रकला की प्रशसा करते हुए लिखा है कि "जैनों चित्रो मे एक नैसर्गिक अत प्रवाह, गति, डोलन और भावनिदर्शन विद्यमान[2] है"।

निस्संदेह जैन चित्रकला का ध्येय अत्यन्त व्यापक और उच्च है। जैनाचार्योंने अपने हाथों से जैनधर्म के सिद्धान्त और कथाओंको स्पष्ट करने के लिये चित्रोंका निर्माण किया

1 देखें भारतीय चित्रकला पृ० ३३

2 Smith History of fine art in India and Ceylon p 133
Percy Brown, Indian painting pp 38 51

तथा जैन राजाओं ने अपनी कलाप्रियता का परिचय देने के लिये लक्ष्मीका सदुपयोग कर मन्दिरों, गुफाओं और ग्रन्थों में कुशल चित्रकारों द्वारा अपनी आम्नाय के अनुसार चित्रोंका निर्माण कराया। इस प्रकार धर्म का आश्रय पाकर जैनचित्रकला में आध्यात्मिक, नैतिक, सामाजिक और प्राकृतिक रहस्यों की अभिव्यञ्जना की गयी।

चित्रकला मर्मज्ञोंने चित्रों के विद्धचित्र, अविद्धचित्र, रसचित्र, और धूलिचित्र ये चार विभाग किये हैं। विद्धचित्र—जिसमें वस्तुका साक्षात्कार होता है या उसकी आवेहूब प्रतिकृति होती है। ऐसे चित्र भित्ति[1], कागज, काष्ठ-पट्टिका आदि पर बनाये जाते हैं।

अविद्धचित्र[2]—जिसका विधान आकस्मिक कल्पना से ही होता है। अविद्ध चित्रों का सौन्दर्य उनके आकार में माना जाता है। ऐसे चित्र कागज पर ही सुन्दर बन सकते हैं, दीवालों पर इनका यथावत् अंकन आसानी से नहीं किया जा सकता है।

रसचित्र[3]—जिनके दर्शन मात्र से शृंगार आदि रसो का ज्ञान हो जाता है, उन्हें रस चित्र कहते हैं। इसका उदाहरण नायधम्मकथा में एक मनोरंजक आख्यायिका में मिलता है। "मिथिला नरेश कुंभराज के पुत्र मल्लदिन्न ने अपने लिये सुन्दर चित्र-शाला बनवाई। उसकी दीवालों पर एक कुशल चित्रकार ने राजकुमारी मल्लिका का केवल अँगूठा देखकर ही उसका पूरा और आवेहूब चित्र खींच दिया। राजकुमार ने जब अपनी बड़ी बहन का चित्र चित्रशाला में देखा तब उसके मनमें चित्रकार और राजकुमारी के सम्बन्ध में संशय उत्पन्न हुआ और चित्रकार को प्राणदण्ड की आज्ञा दी। परन्तु जब उसे मालूम हुआ कि यह चित्रकार की अनुपम कारीगरी का परिणाम है तो उसकी कूंची, रंगों की डिबिया आदि को तोड़-फोड कर निर्वासित कर दिया"[4]। जैन साहित्य में इस प्रकार के रसचित्र या सादृश्य चित्रों के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

धूलिचित्र—जैनो में इस प्रकार के चित्रों का प्राचीनकाल से लेकर आज तक रिवाज प्रचलित है। पूजा-पाठों मे माड़ना पूरना, चौक पूरना एवं चावल के पुञ्जों द्वारा साथिया या अन्य प्रकार के यंत्रों का निर्माण करना इस चित्र प्रणाली में गर्भित है।

---

१ एवं धवलिते भित्तौ दर्पणोदर सन्निभे।
फलकादौ पटादौ वा चित्र लेखनमारभेत् ॥—भारतीय चित्रकला पृ० ५

२ आकस्मिके लिखामीति यदा तूद्दिश्य लिख्यते।
आकारमात्रसम्पत्वे तदविद्धमिति स्मृतम् ॥—अभिलषितार्थ चिन्तामणि पृ० २८२

३ शृंगारादि रसो यत्र दर्शनादेव गम्यते—शिल्परत्न।

४ देखें—भगवान महावीरनी धर्मकथाओ पृ० २२५

ऐतिहासिक दृष्टि से जैन चित्रकला के सम्बन्ध मे विचार करने पर ज्ञात होता है कि ई० सन् से कई शताब्दी पहले गुफाओं, मन्दिरों एव धर्मस्थान मठा आदि मे भित्ति पर चित्रांकन करने की प्रथा जैनों मे थी। ये प्राचीन ध्वसावशेष आज भी जैन चित्र कला के महत्त्व और भव्यता के रहस्य को सुरक्षित किये हुए हैं। मध्य प्रान्त के अन्त र्गत सरगुजा स्टेट मे रामगिरि नाम की पहाडी है, जिसपर जोगीमारा नामक गुफा चित्रित है। इसकी[1] प्रधान चोखट पर एक अत्यन्त सुन्दर, भावपूर्ण चित्र अकित है। प्राचीन भारतीय चित्रकला मे रगो और रेखाओं की दृष्टि से यह अपूर्व है।

इस चित्र के परिचय मे मुनि श्री कान्तिसागर जी ने 'जैनाश्रित चित्रकला'-नामक लेख मे लिखा है[2]—

१ एक वृक्ष के निम्न भाग मे एक पुरुष का चित्र है। बाई ओर अप्सराएँ व गन्धर्व हैं। दाहिनी ओर सुसज्जित जुलूस खडा है।

२ अनेक पुरुष, चक्र तथा विविध प्रकार के अलकार हैं।

३ आधा भाग अस्पष्ट है। एक वृक्ष पर पक्षी, पुरुष और शिशु हैं। चारो ओर मानव समूह उमडा हुआ है, वेशा की ग्रन्थि लगी हुई है।

४ पद्मासनस्थ पुरुष है। एक ओर मन्दिर की खिडकी तथा तीन घोडों से जुता हुआ रथ है।

अत स्पष्ट है कि इस चित्र मे जैन मुनि की दीक्षा का वर्णन अकित किया गया है।

ई० ६०० ६२५ मे पल्लव वशीय राजा महेन्द्रवर्मन के द्वारा निर्मित पद्दुकोटा स्थित सित्तनवासल्लीय गुहा चित्र जैनकला के अद्भुत निदर्शन हैं। यहाँ के चित्रा मे भाव आश्चर्य ढग से स्फुट हुए हैं और आकृतियाँ बिल्कुल सजीव मालूम पडती हैं। समस्त गुफा कमला से अलकृत है। सामने के खम्भा को आपस मे गुथा हुई कमलनाल की लताओ से सजाया गया है। छत पर तालाब का दृश्य अकित है, उसमे हाथियो, जल विहगमा, मछलियो कमुदिनी और पद्मा की शोभा निराली है। तालाब मे स्नान करते हुए दो व्यक्ति—एक गौर और दूसरा श्याम वर्ण के चित्रित किये गये है। इसी गुफा के एक स्तम्भ पर एक नर्तकी का सुन्दर चित्र है, इस चित्र मे चित्रित नर्तकी की भाव भगिया देखकर लोगों को आश्चर्यान्वित होना पडता है। नर्तकी के कमनीय अगा का

१ देखें—भारत का चित्रकला ११ १२

२ विशेष जानने के लिये देखें—विशालभारत नवम्बर १९४७

सन्निवेश चित्रकार ने बड़ी खूबी के साथ किया है। यह मंडोदक चित्र है। सित्तन्नवासल की चित्रकारी अजन्ता के समान सुन्दर और अपूर्व है[1]।

उड़ीसा के भुवनेश्वर की गुफाओं में भी जैन चित्र अंकित हैं, इन चित्रों के सौन्दर्य और भावाभिव्यञ्जन अद्भुत हैं। भित्ति चित्रों की परम्परा जैनों में बहुत समय तक चलती रही। मूड़बिद्री के चन्द्रनाथ चैत्यालय के खम्भों पर उत्कीर्ण प्राकृतिक चित्र अपनी आभा से संसार को आश्चर्य में डाल सकते हैं। इन चित्रों में बाह्य आकर्षण, प्रकृति का सादृश्य, उसकी रमणीयता, कम्पन और नैसर्गिक प्रवाह वर्तमान है।

१२ वीं सदी के उपरान्त १६ वीं सदी तक गुजरात और दक्षिण में जैन चित्रकला का पर्याप्त विकास हुआ। निशीथचूर्णि, अंगसूत्र, त्रिशष्ठिशलाकापुरुपचरित्र, नेमिनाथ चरित्र, कथारत्न सागर, दि० पूजा-पाठों के गुटके संग्रहणीयसूत्र, उत्तराध्ययन, कल्पसूत्र, जैन रामायण, त्रिलोकसार, त्रिलोक प्रज्ञप्ति, भक्तामर, धवलाटीका इत्यादि जैन ग्रन्थ सचित्र पाये जाते हैं। इस जैन चित्रित ग्रन्थ शैली की परम्परा के कारण इस चित्र शैली का नाम जैन शैली रखा जाय तो अनुचित न होगा, क्योंकि इस जैन परम्परा पर जैनेतर भी कई ग्रन्थ सचित्र लिखे गये।

जैनों मे सचित्र ग्रन्थों की दो प्रणालियाँ हैं, पहली में विषय द्वारा समझाने का यत्न किया गया है, समस्त धर्मकथा को चित्रों द्वारा ही अभिव्यक्त किया है। इस शैली मे जैन रामायण और भक्तामर प्रमुख हैं। भक्तामर के प्रत्येक श्लोक के भाव को एक-एक चित्र द्वारा व्यक्त किया गया है, इसी प्रकार रामायण की कथा को जैन परम्परा के अनुसार चित्रों नें बताया है, प्रत्येक पृष्ठ के दोनों ओर जितनी कथा दी है, उतनी कथा को व्यक्त करने वाले चित्र भी दिये है। दूसरी प्रणाली में ग्रन्थ के विषय से बाह्य चित्र दिये जाते है, इसमे चित्र का सम्बन्ध विषय से नहीं रहता है, प्रत्युत उसकी सौन्दर्य वृद्धि के लिये या अन्य हृदयगत भावनाओं को स्फुट करने के लिये चित्रों का अंकन करते हैं। इस मध्यकालीन जैन चित्रकला के सम्बन्ध मे एक विद्वान ने लिखा है "सच पूछिए तो मध्यकालीन चित्रकला के अवशेषों के लिये हम मुख्यतः जैन भण्डारों के आभारी है। पहली बात तो यह है कि इस काल में प्रायः एक हजार वर्ष तक जैन-धर्म का प्रभाव भारतवर्ष के एक बहुत बड़े हिस्से में फैला हुआ था। दूसरा कारण धनी-मानी जैनियों ने बहुत बड़ी संख्या में धार्मिक ग्रन्थ ताड़पत्र पर लिखित और

१ विशेष जानने के लिये देखें—जैन सिद्धान्त भास्कर भाग ५ किरण २ पृ० १०३-१४० तथा भास्कर भाग १२ किरण १ पृ० ४

चित्रित (Illuminated) कराकर बटवाये थे'''। अतएव संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि माधुर्य, ओज और मनोवता जैन चित्रकला में पूर्णरूप से वर्तमान है।

जैन संगीतकला—इस कलाका आधार इन्द्रियगम्य है, पर इसका अधिक सम्बन्ध नाद से है। संगीत में आत्मा की भीतरी ध्वनिको प्रकट किया जाता है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि नाद की सहायता से हमें अपने आन्तरिक आह्लाद को प्रकट करने में बड़ा सुविधा होती है। संगीतका प्रभाव भी व्यापक, रोचक और विस्तृत होता है। जैन प्राचीनकाल से ही इस कला का उपयोग करते चले आ रहे हैं। जैन वाङ्मय में संगीत को क्रियाविशाल नाम के पूर्व में अन्तर्भूत किया है अर्थात् संगीत को वाङ्मयका एक अंग बताया है, इसीलिये प्राचीनकाल में ही इस विषयपर अनेक रचनाएँ हुई थीं। जैन पुराणों में ऐसे अनेक वर्णन हैं, जिनमें जैन राजाओं, उनकी रानियों तथा अन्य लोगों का संगीतज्ञ होना बताया गया है। भक्ति के प्रबल वेगको बढ़ाने के लिये मन्दिरों में गायन और वादन का प्रयोग होता था।

नागकुमार चरित्र से पता लगता है कि स्वयंवर में कन्याएँ आगत राजकुमारों को चैलेंज करती थीं कि जो उन्हें वीणावादन और संगीत में पराजित कर देगा, वही उनका प्राणेश्वर हो सकेगा। इस ग्रन्थ में कवि पुष्पदन्तने लिखा है कि नागकुमारने स्वयं मन्दिर में वीणा बजायी और उसकी स्त्रियोंने नृत्य कर उत्सव मनाया। पुष्पदन्त कवि ने वीणा, दुन्दुभि, ढक्का, भेरी, मृदंग, शंख, झालर, तूर्य, घंटा आदि वाद्योंका उल्लेख किया है। आदिपुराण में भी संगीत के सम्बन्ध में कई उल्लेख हैं²।

सर्वार्थसिद्धि में शब्दों—स्वरों के तत, वितत, घन और सुषिर ये चार भेद किये हैं। पोखर, मृदंग, नगारा आदि के शब्दों का तत, सितार, सारंगी आदि के स्वरको वितत, झांझ, तालर, आदि के स्वरको घन और सुरई, शंख आदि के स्वरको सुषिर कहा गया है। इस शब्द—स्वर विभाग का संगीतकला की दृष्टि से परीक्षण करने पर पता चलता है कि गायन और वादन दोनोंका निरूपण संगीतकला में अभिप्रेत था।

स्थानांग सूत्र की अभयदेव विरचित संस्कृत टीका में संगीत के गुण दोषोंका अच्छा विवेचन किया है। इसमें संगीत के भीत, द्रुत, अपस्वर, उत्ताल, काकस्वर और अनुनास के छः दोष बताये हैं। भीत से डरते हुए, द्रुत से जल्दबाजी, अपस्वर से ऊँची आवाज, उत्ताल से तालभंग, काकस्वर से आवाज में कर्कशता और अनुनास से नाक से गान करने से तात्पर्य है। गुणों में पूर्ण, रक्त, अलंकृत, व्यक्त अविघुष्ट, मधुर, सम और

१ बुद्धि—जैन सिद्धान्त भा. का भाग ।

२ भाग कुमार चरित भूमिका पृ० १८

सुकुमार गिनाये गये हैं। जिसमें सभी स्वर पूर्णरीति और शुद्धतापूर्वक उच्चरित हों, उसे पूर्ण, राग में भावों का भरना रक्त, अलंकारों से भूषित अलंकृत, लय और स्वरका स्पष्ट उच्चारण व्यक्त, गर्दभस्वरंका त्याग करना अविघुष्ट, माधुर्य पर्ण कोकिल स्वर से गाना मधुर; श्रुति और तालका सामञ्जस्य रखना सम एवं संगीत में लोच लाना सुकुमार कहलाता है।

संगीत[1] समयसार पार्श्वदेव की १३ वीं शताब्दी की संगीतविषयक अपूर्व रचना है। इसमें नादोत्पत्ति, नादभेद, ध्वनिभेद, गीत लक्षण और उसके भेद—आलप्ति, वर्ण, अलंकार आदि; गमक, रागों के रागांग, भाषांग, उपांग आदि भेदोंका वर्णन; चार प्रकार के अनवद्यादि वाद्योंका स्वरूप, नृत्य और अभिनयका विवेचन; ताल की आवश्यकता और स्वरूप प्रभृति बातोंपर प्रकाश डाला गया है। मध्यमादि, तोड़ी, वसंत, भैरवी, श्री, शुद्धबंगाल, मालवश्री, वराही, गौंड, धनाश्री, गुंडकृति, गुर्जरी, देशी ये तेरह रागांग राग-लक्षण सहित बताये गये है। वेलावली, अन्धाली, सावरी (असावरी), फल, मंजरी, ललिता, कैशिकी, नाटा, शुद्ध, वराटी, श्रीकण्ठी ये नौ भाषांग राग दिये है। आगे वराही आदि २१ उपांग राग दिये गये हैं। इन सब रागोंका खूब विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। ताल के सम्बन्ध मे एक सुन्दर श्लोक दिया है—

तालमूलानि गेयानि ताले सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
तालहीनानि गेयानि मंत्रहीना यथाहुतिः ॥

गायक, वादक और नर्तक के सम्बन्ध मे भी अत्यन्त सूक्ष्म ज्ञातव्य बातें दी गयी है। राग रागनियों के सम्बन्ध में सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण किया गया हैं। जैन संगीत कला के नमूने गीतवीतराग, जैसे संस्कृत काव्य ग्रन्थों एवं हिन्दी के पद, भजन और लावनी आदि में मिलते है।

जैन काव्यकला—विशेषज्ञोंने ललितकलाओ में सबसे ऊँचा स्थान काव्यकला को दिया है। मस्तिष्क पर अपना प्रभाव डालने मे इसे अन्य अवलम्बन की आवश्यकता नहीं होती है, इसीलिये ललितकलाओ में इसे श्रेष्ठ स्थान प्राप्त है। विषय की दृष्टि से इसके दो भेद किये जा सकते हैं—प्रथम वह जिसमें कवि अपनी बीती बात कहता है और दूसरा वह जिसमें जगबीती बात कहता है। अपनी बीती बात कहने मे निजीपने का अनुभव होने के कारण भावात्मकता की मात्रा अधिक रहती है तथा कवि के हृदयगत भाव एक नयी प्रकार की झंकार के साथ प्रकट होते हैं, ऐसे काव्यों को प्रगीत (Lyrical) कहते हैं। यह अन्तर्मुखी काव्य होता है।

१ देखे—जैन-सिद्धान्त-भास्कर भाग ९ किरण २ तथा भाग १० किरण १

जिसमें जगबीती बात कवि कहता है, वह काव्य अनुकृत (Imitative) कहलाता है, इसमें वर्णन की प्रधानता होती है। ऐसे काव्य प्रबन्धकाव्य कहलाते हैं। जैन काव्यरचना में दोनों ही प्रकार की रचनाएँ वर्तमान हैं। भारतकी प्रायः सभी भाषाओं में काव्य ग्रन्थ लिखे गये हैं। यद्यपि इस निबन्ध में समस्त जैन काव्यों की बारीकियों के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा जा सकता है, फिर भी नाममात्र गिनाकर इस कला के विषय में कतिपय बातें लिखी जायँगी। जैन काव्य ग्रन्थों में धर्मशर्माभ्युदय, चन्द्रप्रभ, मुनिसुव्रत, पार्श्वाभ्युदय, नेमिनिर्वाण, अमरुशतक, यशस्तिलकचम्पू, पुरुदेवचम्पू, जीवन्धरचम्पू, काव्यानुशासन, अलंकारचिन्तामणि, गद्यचिन्तामणि, शालदूत, नेमिदूत, चेतोदूत, इन्दुदूत, पवनदूत, मनोदूत, द्विसन्धान, सप्तसन्धान, क्षत्रचूड़ामणि, छन्दोऽनुशासन, रत्नमञ्जूषा आदि रचनायें उल्लेखनीय हैं।

महाकवि हरिश्चन्द्र ने धर्मशर्माभ्युदय में सूक्ष्म कल्पना, भाव गाम्भीर्य, रसीली भाषा का प्रयोग कर अद्भुत चमत्कार दिखलाया है। भाषा और शैली की चमचमाहट भाव को तुरन्त हृदयंगम कराती है। मधुर वाक्यावली में बद्ध कवि विचार रसगुल्ले के समान सब प्रकार से अच्छे लगते हैं। कवि ने अपनी अनुभूति की व्यापकता के कारण ऐसे विषयों का विधान किया है जो मानवमात्र की अनुभूति से सम्बन्ध रखते हैं। भावों के प्रकृत आधार की कल्पना द्वारा पूर्ण तथा यथातथ्य प्रत्यक्षीकरण इसमें वर्तमान है। अतः रति, हास, शोक, क्रोध इत्यादि की ऐसी अनुभूति प्रकट की है, जिससे पाठक काव्य में तन्मय हुए बिना नहीं रह सकता। कवि ने गगन नभ में चमकते हुए पूर्णचन्द्र की कितनी सुन्दर कल्पनाएँ की हैं—

> किं मिथुना स्फटिकपानपात्रमिदं रजन्याः परिपूर्यमाणम्।
> चलद् द्विरेफोच्चयचुम्ब्यमानमाकाशगङ्गाम्बुरुहं च वा॥

अर्थ—क्या यह मधु से भरा हुआ रजनी का स्फटिक निर्मित दानपात्र—प्याला (कप) है? या चञ्चल भ्रमर समूह द्वारा चुम्ब्यमान मन्दाकिनी का विकसित सफेद कमल है?[1]

> दिग्वारणस्याथ मुखात्स्यान्निच्युत मृणालो विषकन्द एषः।
> किं व्योम्नि नीलोपलदर्पणाभे सश्मश्रुवक्त्रं प्रतिबिम्बितं मे॥

क्या दिग्गज हाथी के मुँह से गिरा हुआ यह कुछ मृणाल है? या नीलमणि निर्मित दर्पण समान आभा वाले आकाश में दाढ़ी-मूँछ सहित मुख ही प्रतिबिम्बित हो रहा है?

१ धर्मशर्माभ्युदय सर्ग १४ श्लो० २

कवि की उपर्युक्त उत्प्रेक्षा किस रसिक को मुग्ध न करेगी। इस महाकाव्य में उत्प्रेक्षा उपमा, रूपक, समासोक्ति, श्लेष, भ्रान्ति और काव्यलिङ्ग आदि अलंकारों की छटा निराली ही दिखलाई पड़ती है। इसी प्रकार चन्द्रप्रभकाव्य भी अपने सरस, मधुर और सुदृढ़ पद्यों द्वारा पाठकों को रससरिता में मज्जन कराता है।

श्री जिनसेनाचार्य ने मेघदूत की पादपूर्ति में पार्श्वभ्युदय की रचना की है। इस कवि ने शृंगार रस से ओत-प्रोत श्लोकों के चरणों को भगवान् पार्श्वनाथ की पौराणिक वार्ता के सांचे में ढालकर रौद्र, वीर और शान्त रस की अपूर्व त्रिवेणी प्रवाहित की है।

"तस्य स्थित्वा कथमपि पुरः कौतुकाधानहेतोः" इस पद्यांश में कवि कालिदास ने यक्ष की विरह वेदना का अंकन किया है, किन्तु जैन कवि ने सिनेमा के चित्रपट के समान शृंगारिक मूर्त्ति को विलीन कर उसके स्थान पर रौद्रमूर्त्ति शाम्बर को खड़ा किया है—

सोऽसौ जाल्मः कपटहृदयो दैत्यपाशः हताशः
स्मृत्वा वैरं मुनिमपघृणो हन्तुकामो निकामम्।
क्रोधात्स्फुर्जन् नवजलमुचः कालिमानं दधान-
स्तस्य स्थित्वा कथमपि पुरः कौतुकाधानहेतोः॥

दोनों में कितना महान् अन्तर है।

जैनाचार्यों ने काव्यों द्वारा धार्मिक एवं सैद्धान्तिक तत्त्वों और नियमों का प्रचार किया है। इन्होंने शृंगार की ओर जाती हुई काव्य धारा को मोड़कर भक्ति और शान्त रस की ओर लगाया हैं। जैनों ने राजनीति, समाज विज्ञान, अर्थ शास्त्र, तत्त्वचर्चा आदि विषयों का समावेश भी जैन काव्यों में किया है। संक्षेप में जैन काव्यकला में वे सारे तत्त्व वर्तमान हैं जो मानव हृदय को स्पर्श करने वाले हैं तथा जिनमें आनन्दोद्रेक करनेवाला रूप-सौष्ठव पूर्ण रूप से है। अतएव जैनकला विश्व की ललित कलाओं में अपना प्रमुख स्थान रखती है।

श्री जैन-सिद्धान्त-भवन
आरा
१५-१२-४८

है। कुछ भी हो, पर इतना तो स्पष्ट है कि इस ज्ञान का समय किसी भी हालत में ४ थी या ३ री शताब्दी ई० पू० से नीचे नहीं रख सकते । खैर, जीवाभिगम-सूत्र के ८२वें और १०९ वें सूत्र क्रमशः नीचे दिये जाते है—

'तत्थणं जे ते सखेज्ज वित्थडे से ण एक्कं जोयण सयसहस्सं आयामविक्खंभेणं तिन्नि जोयणसइसहस्साइ सोलससहस्साइ दोन्नि य सत्तावीसे जोयण-सए, तिन्नि कोसे य, अट्ठावीसं च धणुसतं ते रस य अगुलाइं अद्धंगुलयं च किंचि विसेसेण परिक्खेवेणम्

[तत्त योऽसौ सङ्खेय विस्तृतः स एक योजनशतसहस्रमायामविष्कभेण, त्रिणियोजन शतसहस्राणि, पोडशसहसाणि, द्वे च सप्तविंशति (अधिके) योजन शते त्रयः क्रोशाश्चाष्टाविंशं च धनुः शत त्रयोदश चाङ्गुलान्यर्धाङ्गुलकं च किञ्चिद्विशेषाधिकं परिक्षेपेण]

तिन्नि जोयण सयाइं आयामविक्खभेणं णव एकूणपण्णजोयणसए किंचिविसेसेण परिक्खेवेणं

[त्रिणि योजनशतान्यायामविष्कभेण नव एकोनपञ्चाशत् (अधिकानि) योजनशतानि (९४९) किञ्चिद् विशेषेण परिक्षेपेण]

सूर्य प्रज्ञप्ति के २० वें सूत्र का उद्धरण यों है:—

एगं जोयण सहस्सं एग तेत्तीसं जोणणमयं आयामविक्खंभेण तिण्णि जोयण सहस्साइ तिण्णि य नवणउए जोयणसते परिक्खेवेणं

एक योजन सहस्रमेक त्रयस्त्रिंश (त्रयस्त्रिंशदधिकं) योजनशतम् (११३) आयाम-विष्कभेण त्रीणियोजनसहस्राणि त्रीणि च नवनवतीनियोजनशतानि (३३९९) परिक्षेपेण ।

दूसरे मान का प्रयोग जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति (१९ वां सूत्र) और उत्तराध्ययनसूत्र में हुआ है। तीसरे मान का सकेत जीवाभिगमसूत्रके ११२ वें सूत्र में मिलता है। वहाँ यह भी लिखा है कि यदि वृत्त का व्यास १०० हो तो परिधि ३१६ होगी।

तिलोयपण्णत्ति मे वृत्त-सम्बन्धी चर्चा प्रथमाधिकार गाथा ११७ में विस्तार से आई है।

π का मान केवल तीन मान कर भी जैन आचार्यों ने स्थूल क्रियाएँ की है। प्रमाण मे 'वासोतिगुणो परिधि' को उपस्थित किया जा सकता है। महावीराचार्य ने भी स्थूलकार्य के लिए π का पाटीय मान ३ ही माना है, पर सूक्ष्म कार्य के लिए $\sqrt{१०}$ या ३.१६.

दिगम्बर ग्रन्थ 'लोक विभाग' में π का मूल्य $\frac{१९}{६}$ मिलता है। लोक विभाग में
$\pi = \sqrt{१०} = \sqrt{९} + \frac{१}{२\times३} = ३ + \frac{१}{६} = \frac{१९}{६}$

षड्खण्डागमसूत्र की धवलाटीका में परिधि लाने के लिए निम्न रीति लिखी गयी है। जो रीति सर्वथा विलक्षण और शुद्ध है। इसका मेल पौर्वात्य या पाश्चात्य किसी भी सिद्धान्त से नहीं बैठता है। इसकी शुद्धता का प्रमाण यही है कि यदि व्यास २ मान लिया जाय तो परिधि उक्त नियमानुसार ६.४२ आती है तथा २२/७ के हिसाब से ६.२९ इससे स्पष्ट है कि प्रथम मान द्वितीय की अपेक्षा अधिक शुद्ध है।

व्यासषोडशगुणित षोडसहित त्रिरूपरूपैर्भक्तम्
व्यास त्रिगुणसहित सूक्ष्मादपि भवेत् सूक्ष्ममम्

अर्थात् $\frac{\text{व्या} \times १६ + १६}{११३}$ + व्यास ३ = परिधि

पर किसी स्थल पर इन परिणामों की युक्ति नहीं मिलती। परम्परागत एक और सूत्र मिलता है —

विक्खम्भ वग्गदहगुणकरणी वट्टस परिरयो होदि ॥

यह पाठ क्षेत्रसमास में भी मिलता है। अस्तु आचार्य नेमिचन्द्र ने इसकी वासना में √१० की उपपत्ति का प्रतिपादन किया है। सारांश अधोलिखित है —

किसी भी वृत्त की परिधि के अनन्त हिस्से किये जायँ और उसी माप के हिसाब से व्यास के भी टुकड़े किए जायँ तो रूप व्यास में परिधि का मान √१० आएगा। यहाँ पर शंका इस बात की होती है कि परिधि तो चापाकार होती है और व्यास सरलाकार फिर दोनों के अनुपात से रूपपरिधि में √१० का मान कैसे होगा ? इसका उत्तर यह है कि किसी भी वृत्त की परिधि का ९६ वाँ खण्डचापाकार छोड़कर सरलाकार हो जाता है।" यहाँ पर सबसे आश्चर्यजनक बात है कि आर्कमीडस भी ९६ भुजा के समद्विभुज क्षेत्र के परिमित्व से π>३३ के निष्कर्ष पर पहुँचा था और वासनाकार भी ९६ का प्रयोग करते हैं।

इस वासना के गुणावगुण का ख्याल न किया जाय तो भी, इसका ऐतिहासिक मूल्य बहुत है। गणित में युक्तिप्रतिपादन के भारतीय इतिहास में यदि यह सर्वप्रथम प्रयास नहीं हो तो भी, जैनगणित में तो यह सर्वप्रथम अवश्य है, ऐसी मेरी धारणा है क्योंकि इसका खण्डन का प्रमाण मुझे नहीं मिला। समूचा भारतीय ज्ञानकोष प्राय सूत्रबद्ध है अतएव उपपत्ति के लिये अन्वेषकों को काफी कष्ट उठाना पड़ता है।

यहाँ तक कह लेने के बाद π के मान के सम्बन्ध में जैनेतर भारतीयों के सिद्धान्त में कोई नवीनता नहीं रह जाता। जहाँतक मेरा ख्याल है कि π का उपपत्ति के सम्बन्ध में जैनेतर आचार्यों की भी कोई युक्ति नहीं मिलती। टीका ग्रंथों में अवश्य युक्तिका उल्लेख मिलता है, जैसे 'आर्यभट्टीयम्' की नीलकण्ठी टीका में। इसटीका का समय १४५० १५५० ई० स० माना जाता है। इस युक्तिका सारांश यह कि वृत्तकेन्द्र से परिधि पर्यन्त अनन्त त्रिज्याएँ खींची जाय, फिर वृत्तक वृत्तखण्ड को द्वन्द्वश व्यस्तारोपण करें, चाप के अणीयस परिणाह के कारण, वृत्त एक आयत में परिवर्तित हो जायगा। चाप सरलाकार हो जायगा और वह आयत वृत्त के क्षेत्रफल के बराबर होगा। स्पष्ट है कि इस तरह की प्रणालीका मूल आनक्ल क सीमाभ्यमान का सिद्धान्त (Theory of limiting value) है। π की नित्यता पर भी आर्यभट्टीयम् में स्पष्ट उल्लेख है। √१० की उपपत्ति के विषय

में हमें केवल कमलाकर के सिद्धान्त तत्त्वविवेक में ही युक्ति मिली जिसका उल्लेख नीचे किया जा रहा है। कमलाकर का सूत्र है—

"व्यासवर्गाद्दशगुणात्पदं भूपरिधिः भवेत्" और उपपत्ति के लिये उन्होंने प्रमाण दिया है।

रुद्राहतव्यासदलोत्थवृत्तेः व्यासोत्क्रमज्यावशतः क्रमज्या।
या तत्समोऽयं परिधिः सुसूक्ष्मो व्यासैकमानाद्दशमूलरूपा॥

कमलाकर ही ने शायद पहले पहल रेखागणितीय विश्लेषण की युक्ति दी है।

अगर कमलाकर की बात छोड़ दी जाय, तो १५ वीं शताब्दीतक यूरोप और भारत में π के निम्बत बराबर ही काम हुआ। क्योंकि उस कालतक यूरोप में आर्कमीडस की रीति पर ही, π का पाटीयमान निकलता रहा था। भारत मे भी पाटीयमान की भरमार हो गयी थी। युक्तिप्रतिपादन का अन्तर अवश्य था। क्या अन्तर था कहा नहीं जा सकता। ऐसा मालूम पड़ता है कि युकलिड साहब की रेखागणितीय रीति, या आर्कमीडस साहब की कल्पना कि परिधि का मान परिलिखित (Circumscribed) और अन्तर्लिखित (Inscribed) सम बहुभुज क्षेत्र के बीच होता है, का पता जैन आचार्यों को था। √१० तो सर्वथा भारतीय है। षट्खण्डागमसूत्र तथा सूर्यप्रज्ञप्ति काफी पुराने है। इनमें वर्णित गणित के सिद्धान्त ई० पू० ४ थी शताब्दी के बाद के सगत नहीं मालूम पड़ते।

दो बात इस सम्बन्ध में और बचीं। π की करणीगतता (Irrationali) असंख्येयता) और पाश्चात्यों का यह प्रश्न कि वृत्तक्षेत्र के बराबर एक वर्गक्षेत्र की रचना पहले के सम्बन्ध में जैन आचार्य एकदम मौन नहीं है, उन्होने संख्याओं का वर्गीकरण बहुत ही उत्तम रीति से किया है। यूरोप में १७६१ ई० मे लेम्बर्ट साहबने आर्यभट्टीयम् के उपर्युक्त टीका के निम्न अवतरण से सिद्ध किया है।

कुतः पुनर्वास्तवी संख्यामुत्सृज्यासन्नैवेहोक्ता। उच्यते तस्या वक्तुमशक्यत्वात्। कुतः येन मानेन मीयमानो व्यासः निरवयव स्यात्, तेनैव मीयमानः परिधिः पुनः सावयव एव स्यात्., स्पष्ट हो जाता है कि π की करणीगतता का ज्ञान हमें प्राप्त था।

रहा दूसरा प्रश्न। आर्कमीडस ने उत्तर में rectilinear triangle [सरल त्रिभुज जिसका आधार परिधि हो और ऊँचाई त्रिज्या हो, की कल्पना की थी। इस त्रिभुज को समक्षेत्रफलीय वर्ग में परिणत करना कठिन नहीं रह जाता। पर, जैन ग्रन्थों में इस प्रश्न का कोई स्पष्ट हल नहीं मिलता। जैनेतर ग्रन्थों में आर्यभट्टीयम् की वासना में नीलकण्ठने इस पर काफी प्रकाश डाला है। वे वृत्तको आयत मे परिणत करते है।

इसके बाद π की प्रगति भारत में अवरुद्ध हो जाती है। यूरोप में π पर आशातीत नये मतों का प्रतिपादन हुआ। संक्षेपतः इतिहास यों है—

त्रिकोण मिति का π के लिये प्रयोग होना शुरू हुआ। १६२१ के करीब Snell साहबने चापकलन (rectification) की एक रीति चलायी जो आर्कमीडस साहब से अच्छी और अधिक शुद्ध थी।

पर सबसे नवीन रीति देकार्तने अपनायी। यह रीति आर्कमीडस साहब से बिल्कुल उलटी है दी हुई रेखा को परिणाह परिधि के बराबर मानकर उन्होंने वृत्त के व्यास का मान निकाला। मूलतः उनकी रीति है कि दी हुई रेखा के चतुर्थांश पर एक वर्ग बनाया जाय। कर्णपर एक बिन्दु (बाहर) लिया, यह बिन्दु इस तरह का होना चाहिये कि, वर्ग की एक भुजा के साथ, उस बिन्दुको एकशीर्ष बिन्दु मानकर एक आयत बने जो वर्गका चतुर्थांश हो फिर उसी कर्णपर एक अन्य बिन्दु लेकर इसी तरह एक आयत बनाया जाय जो उस आयत का चतुर्थांश हो। इस क्रिया में अन्ततः जो बिन्दु मिले उस कर्णका परिमाण व्यास होगा।

बाद में वालिस साहबने कालीयद्विधानियामक शब्दों के सहारे, समीकरण में π का मान यों रखा।

$$\frac{४}{\pi} = \frac{३३५५७७}{२४४६६८८}$$

और ब्रौंकर साहबने इसी परिणाम को वितत भिन्न के सहारे यों लिखा।

$$१+\cfrac{१^२}{२+\cfrac{३^२}{२+\cfrac{५^२}{२+}}}$$

उसके बाद सबसे महत्त्वपूर्ण प्रयोग इस दिशा में ग्रिगरी साहब का हुआ, इनका समय १७ वीं शताब्दी है। पहले तो इन्होंने आर्कमीडस साहब के समान रीति अपनायी। अन्तर इतना ही था कि जब आर्कमीडस साहबने मान निकालने के लिये परिमिति के सीमान्त मानकी कल्पना की थी वहां ग्रिगरी साहबने क्षेत्रफल के सीमास्थमान की कल्पना की।

पर सबसे आधुनिक रीति के अनुसार π का मान एक अनन्त सतत श्रेणी में लिखा जाता है। ग्रिगरी साहबने अपना परिणाम प्रस्तुत समीकरण के आधार पर निकाला।

$$\theta = \tan\theta - \tfrac{1}{3}\tan^3\theta + \tfrac{1}{5}\tan^5\theta -$$

$$\theta = \text{स्पर्शज्या}\,\theta - \tfrac{1}{3}\,\text{स्पर्शज्या}^3\theta + \tfrac{1}{5}\,\text{स्पर्शज्या}^5\theta$$

परिणामतः चापको स्पर्शज्या की श्रेणी में लिखने की रीति यहीं से चली। इसी समय न्यूटन आदि भी ध्यान में लगे थे, न्यूटनने चापको ज्या की श्रेणी में लिखने की रीतिका प्रतिपादन किया।

जैन आगम ग्रन्थों में उपर्युक्त प्रणाली का आभास नहीं मिलता है। पर मुकुन्दमरार और राजगोपालन के मतानुसार तन्त्रसंग्रह, युक्तिभाष्य, करणपद्धति और सद्रत्नमाला में उक्त प्रणाली स्पष्ट दिखाई पड़ती है। चारों ग्रन्थ दाक्षिणात्यों के हैं। तन्त्रसंग्रह के

कर्त्ता हैं नीलकण्ठ, जिन्होंने आर्यभट्टीयम् की टीका लिखी है। तन्त्रसंग्रहका रचनाकाल १६ वीं शताब्दी है। वहाँ ट=१ और ट=⅓का मूल्य निकाला गया है। युक्तिभाष्य में रीतिका प्रतिपादन हुआ। इसका समय१६३९ ई० स० मालूम पड़ता है। यूरोप में ट=⅓×√३ का मूल्य १६९९ ई० में निकला था। स्वय ग्रिगरीसिद्धान्त के प्रकाशनका समय १६७० के करीब माना है। नमूने के तौरपर कुछ श्लोक हिन्दी सहित उद्धृत नीचे कियेजाते हैं

व्यासार्धेन हतादभीष्टगुणतः कोट्याप्तमाद्यं फलं
ज्यावर्गेण विनिघ्नमादिमफलं तत्तफलं चाहरेत्।
कृत्या कोटिगुणस्य तत्र तु फलेष्वेकत्रिपञ्चादिभिः
भक्तेष्वोजयुतैस्त्यजेत्समयुतिं जीवाद्धनुशिशष्यते ॥

अर्थात् चापको—कोट्यत्तको व्यासार्ध से गुणा और गुणनफलको भुज से भाग दीजिये। यह योजना में प्रथम होगा। इस पदको कोट्यत्तवर्ग से गुणाकर भुजवर्ग से भाग, यह श्रेणी का दूसरा पद होगा। इस क्रमको जारी रखा जाय। इस तरह से पदोंका क्रम मिलेगा, इन्हें क्रम से १, ३, ५ से भाग दें, १, ३, ५ स्थानीय राशियोंका सङ्कलन और २, ४, ६ स्थानीय राशियोंका व्यकलन किया जाय, परिणाम में परिधि आयगा।
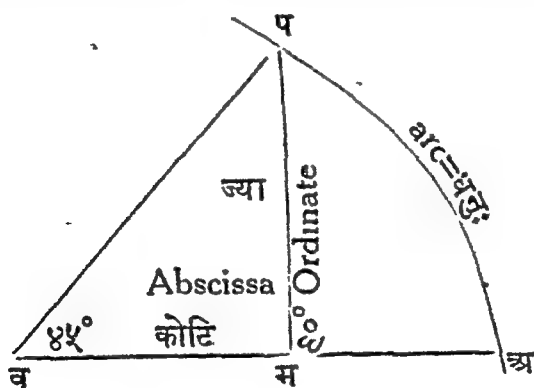
कोण अवप ∠ ४५° चाप पअ=वप $\left\{\frac{पम}{वम} - \frac{1}{3}\frac{पम^3}{वम^3} + \frac{1}{5}\frac{पम^5}{वम^5}\right\}$

इस तरह प्रस्तुत नियम आधुनिक सिद्धान्त के अनुरूप मिलता है:—

$\tan^{-1}t = \pm\frac{1}{3}t^3 + \frac{1}{5}t^5 \ldots\ldots |\tan^{-1}t| < \frac{\pi}{4}$

अतएव स्पष्ट है कि दक्षिण में ऐसे लुप्त जैन ग्रन्थ का मिलना असंभव नहीं मालूम पड़ता जिसमें इन बातों की चर्चा हो। युक्तिभाष्य मलयालम में है, अतएव कन्नड़

१ आर्यभट्टीयम् की नीलकण्ठीका प्रस्तुत अंश विचारणीय है—
परिधेः षड्भागज्या विष्कम्भार्ध तुल्यैव ॥

साहित्य में इस तरह के जैन गणित ग्रन्थोंका पता चल सकता है।

एक रीति और है—जिसमें π का पाटीयमान निकाला गया है। उस रीतिका प्रतिपादन समाविता-गणित से होता है। इस रीति के प्रतिपादन के मूल में भावना है कि π को केवल परिधि से व्यासका अनुपात ही नहीं माना जाय। इसे एक करणीगत राशिका संकेत मात्र माना जाय जिसका प्रयोग गणित में विभिन्न स्थलोंपर होता है। रीतिका प्रतिपादन निम्न है—

एक समतलपर समदूरस्थ समानान्तर रेखाएँ खींची जायें, प्रत्येक रेखा के बीच की दूरी अ है। एक सूची जिसकी कल्पित लम्बाई ल (∠अ) है उस धरातल पर गिराई जाती है। इसकी सम्भावना कि उस समतलपर वह सूची फेंकी जानेपर किसी एक रेखाको पार कर जाय, $\frac{२ल}{\pi अ}$ है। डी मार्गन के एक शिष्य ने ६०० बार प्रयोगपर π का मूल्य ३.१३७ निकाला था।

एक दूसरी रीति का प्रतिपादन यों है—दो संख्याएँ जिस तिस प्रकार से (At random) चुन ली गयीं इसकी सम्भावना कि दोनों परस्पर अभाज्य हैं $=6/\pi^2$ इसके सतत वास्तविक प्रयोग से भी π का मान निकाला गया है।

मेरा विश्वास है कि अन्वेषण करने पर जैन गणित या अन्य भारतीय गणित में इस सम्भाव्य गणित प्रक्रिया का प्रयोग भी मिलेगा।

जैन ज्योतिष का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ

(ज्योतिप्रकाश—जैनतिथिपत्र साधन)

[लेखक—श्रीयुत् बा० अगरचन्द नाहटा]

भारतवर्ष में ज्योतिष विज्ञान का आविष्कार बहुत प्राचीन समय में हुआ और उसका क्रमशः विकास होता चला गया। जिसके फलस्वरूप हजारों ग्रन्थ इस विद्या सम्बन्धी प्राप्त होते हैं। जैन मुनियोंका भी इसकी ओर प्रारंभ से आदर रहा है। अतः जैन आगमों—अंग साहित्य में भी इस सम्बन्ध मे काफी सामग्री मिलती है एवं स्वतन्त्ररूप से चंद्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, लोकविजय यंत्र ज्योतिष करंडक. आरम्भसिद्धि तिलक गणि विद्यादि ग्रन्थ प्राप्त है। कई वर्ष पूर्व भास्कर एवं विज्ञान में उस समय तक के ज्ञात जैन ज्योतिष ग्रन्थों की सूची प्रकाशित कर चुका हूँ एवं भास्कर के संपादक श्रीनेमिचन्द्रजी ज्योतिषाचार्यने उनकी विस्तृत सूची के साथ जैन ज्योतिष के महत्वपर प्रकाश डाला है जो वर्णीअभिनंदन ग्रन्थ में शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाला है। पर अभी ज्यों-ज्यो खोज होती जायगी. नये-नये अन्य अनेक ग्रन्थ प्रकाश में आते रहेंगे। कई ग्रन्थों के तो यद्यपि उल्लेख व उद्धरण भी प्राप्त होते हैं पर अभीतक उनकी प्रतियाँ प्राप्त नहीं हुई। जैसे मेघविजय उपाध्याय के ग्रन्थ में प्राकृत 'भद्रबाहुसंहिता' के निर्देश के साथ कुछ उद्धरण भी है पर वह ग्रन्थ अभी अप्राप्य है यद्यपि इसी नामवाला संस्कृत ग्रन्थ प्राप्य है। इसी प्रकार नरचन्द्रोपाध्याय के 'जन्म प्रकाश' और 'प्रश्नशतक' का उल्लेख उन्हीं के अन्य ग्रन्थों मे प्राप्त है पर वे ग्रन्थ अभी उपलब्ध नहीं हुए। प्राकृत भाषाका हीरकलश कृत ज्योतिषसार नामक ग्रन्थ की भी अपूर्ण प्रति ही प्राप्त हुई है यद्यपि इसी कर्त्ताका लोकभाषाका 'हीरकलश' ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है।

दिल्ली के श्रीयुत् पन्नालालजी जैन से वहाँ के दि० सरस्वती मन्दिरों की कतिपय प्रतियाँ मँगाकर लाभ उठाते हुए वहाँ के नये मन्दिर के ज्ञान भण्डार से एक ज्योतिष ग्रन्थ की प्रति प्राप्त हुई है। इसके भी मध्य के (पत्रांक ९-१६-४४) पत्र व अंतका पत्र प्राप्त नहीं हुआ। प्रस्तुत ग्रन्थ बहुत महत्वका है पर त्रुटित है। अद्यावधि इस ग्रन्थ की अन्य कोई प्रति कहीं ज्ञात नहीं हुई। अतः पाठकों की जानकारी के लिये इसका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है, किसी सज्जनको इसकी पूर्ण प्रति कहीं प्राप्त हो तो मुझे सूचित करने की सादर विज्ञप्ति है। जयपुर के पं० भगवानदासजी से ज्ञात हुआ कि काशी के

हीराचन्द्रसूरि के भंडार में भी इसकी एक अपूर्ण प्रति है पर सूरिजी से पूछनेपर उत्तर मिला कि इस नामवाले ग्रन्थका यहाँ पता नहीं चलता।

ग्रन्थनाम—

प्रस्तुत ग्रन्थका नाम 'ज्योति प्रकाश' या 'जैनतिथि पत्र साधन' (रचना) है। प्राप्त प्रति के अनुसार उसमें ७ प्रकाश हैं अन्तिम प्रकाश में ही इसका नाम ज्योति प्रकाश दिया गया है। अन्य प्रकाशों के अन्त में "जैनतिथि पत्र साधन" संज्ञा दी गयी है और ग्रन्थ के विषय एवं प्रारंभ के श्लोक से भी इसी नामका समर्थन होता है।

महत्व एवं आधार—बहुत समय से जैन ज्योतिषानुसार पञ्चाङ्ग के विच्छेद हो जाने से पर्व तिथियों को लेकर श्वे० जैन समाज में बड़ा विवाद चलता आ रहा है और अब तो वह चरम सीमातक पहुँच गया प्रतीत होता है। तब प्रस्तुत ग्रन्थ में उसी कमीको पूरी करनेका प्रयत्न किया गया प्रतीत होता है इससे ग्रन्थका महत्व बहुत बढ़ जाता है। इस ग्रन्थ की रचनाका मूल आधार आचार्य मलयगिरि की ज्योतिष करण्डक वृत्ति है।

एक अप्राप्त दि० ज्योतिष ग्रन्थ का निर्देश—प्रस्तुत ग्रन्थ में सूर्यप्रज्ञप्ति[1] चन्द्रप्रज्ञप्ति एवं लोकप्रकाश आदि श्वे० ग्रन्थों के उल्लेख के साथ इसमें दि० मूलसंघीय ज्ञानभूषण के खेटचूल[1] ग्रन्थका भी निर्देश है यदि यह ग्रन्थ प्राप्त हो तो इसका परिचय प्रकाशित करना आवश्यक है अनुपलब्ध हो तो दि० भंडारों में खोज करनी चाहिये। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रत्येक प्रकाश के अन्त में ज्ञानभूषणका भी निर्देश है। अतः उनका ग्रन्थ भी आधार भूत ग्रन्थ प्रतीत होता है।

ग्रन्थकार व रचना समय—

ग्रन्थ के प्रारंभ में एवं प्रकाशों के अन्त में दिये गये श्लोकों में ग्रन्थकारका नाम निर्देश प्रतीत होता है पर वह अस्पष्ट-सा है एवं अन्त की प्रशस्ति अपूर्ण प्राप्त होने से ग्रन्थकार के नामका निश्चय नहीं कर सका पर वह श्वे० तपागच्छीय हीरविजयसूरि की परम्परा का है यह तो निश्चित है। इसी प्रकार ग्रन्थ रचना कालका निर्देश भी ग्रन्थ में २-स्थानोंपर सं० १६४० (हीरसूरि के अकबरको बतलाने रूपमें) का किया है पर

१ [illegible] आशाधरपाक्षिका मूलसंघे श्रीज्ञानभूषणसूर [illegible]।

२ [illegible] प्राग् सथा च तद्ग्रन्थ नया स्तुति। श्रीजैनशिष्टतिथिपत्रमिदं [illegible] च [illegible] भगवान् कल्पाणुगाय, वाला[illegible]विधिना जिनप्रपद श्रीज्ञानभूषण [illegible]। ज्ञानभूषण नगदिभूषण [illegible], प्रयाचि[illegible] स्व विनया हितावधार[illegible] भवति विधि[illegible] ॥२॥ इत्यादि [illegible], सारधामवृत्ति प्रवर्तिता।

ग्रन्थ में विनय विजय के "लोकप्रकाश" जिसकी रचना संवत् १७०८ में हुई है एवं सं० १७२५-३०-४०-४१-५५ के कई उल्लेख उदाहरण के रूपमे होने से ग्रन्थका वास्तविक रचना समय सं० १७५५ के कुछ समय बादका ही ज्ञात होता है। ग्रन्थ की अन्तिम प्रशस्ति पूर्णरूप से प्राप्त होनेपर ही इसका पूरा निश्चय हो सकता है।

अब ग्रन्थ के कुछ पद्य उद्धृत किये जाते हैं।

मंगलाचरण—

प्रणम्य सम्यग्नाभेयं पुरुषोत्तमनगीश्वरम् ॥
श्री जैनतिथिपत्रस्य रचनां वच्मि कांचन ॥१॥
गौतमाद्या गणेशाश्च भास्करप्रमुखाः खगाः ॥
ज्योतिः प्रसादं दधतां जैनशासनसूरयः ॥२॥
श्री हीरविजयसूरेः, साम्राज्ये तपगणे विजयमाने ॥
श्री अकबर चक्रपतिः सपातिसाहिर्वभूव भुवि ॥३॥
प्रवचनवनकक्रपोपलप्रोन्मील च शील भूषणां गणिनः।
करकमलसिद्धिराज चरित्राचारदृढ़रुचयः ॥४॥
तेषां कृपानुयोगाच्छिष्य भुजिष्यो विशेष्य विनय मतिः।
कुरुते गुरुतेजोभिर्ज्योतिरिदं स्पष्टमिह जैनम् ॥५॥

× × ×

तस्य खाब्ध्यंगभूः (१६४०) वर्षे श्री हीरगुरुसंगमात् ॥
करुणाविरभूत्तस्माद्दयाधर्मोप्यदीदिपत् ॥१०॥
ज्ञानगोष्ट्यां प्रवृत्तायां ज्योतिःशास्त्रमुपादिशत् ॥
श्रीहीरसूरिस्तच्छ्रुत्वा सोत्साहः साहिराह च ॥११॥
गुरुणादिश्यते ज्योतिर्मार्गस्तस्यानुसारि च ॥
तिथिपत्रं स्फुटी कृत्वाऽस्मन्नाम्नैव प्रवर्त्यताम् ॥१२॥

प्रथम प्रकाश के अन्त में—

इति श्री जैनतिथिपत्रसाधने तिथिद्वारं संपूर्णं। प्रथमः प्रकाशोपि पूर्णः। पूर्वाचार्य मलयगिरयो मे प्रसीदंतु सद्यो ज्योतिमार्गे दिनकर ,समाज्ञानतो भूषणाभाः धन्यैर्मामतिरतिशयाद् द्वेष वेषं विमुच्यामीषां ज्योतिर्भजति विमलं यन्मनीषां विशिष्यन्या ॥१॥

द्वितीय प्रकाश के अन्त में—

इतिश्रीजैनतिथिपत्रसाधने द्वितीय द्वार, तेन द्वितीय प्रकाश सपूर्ण ॥

तृतीय द्वार तु तिथिघटिकारूप तिथ्यधिकारादेव सुलभ, तुर्य नक्षत्रद्वारमारभ्यते ॥

अज्ञान घर्मतापे मलयगिरिर्हीतननतृषागोभि
दूरादपि निपयविद्यौ शुचिसमये विनय नम पूर्णे ॥१॥
ज्ञान भूषणमपिस्तुमः सता सर्व माडलिक वदित हित ।
सूर्यकातमतिनिर्मल गवाक्षेत्रभासन सभासनाश्रित ॥२॥

तृतीय प्रकाश की प्रशस्ति नहीं मिली—

चतुर्थ प्रकाश के अन्त में—

ज्ञानभूषणमवाप्य सद्गिरा। वस्तुतोयन्धियोति पाटव। हेतुरमलयाचलक्रम। सौरभातु भव ण्य लभायते ॥१॥ इति नक्षत्र द्वार। वारवार निम्र्यवस्यमना। इहमकार्य विष्टित। गुरु विनयस्य प्रसादोऽसौ ॥२॥ इति श्री जैनतिथिपत्रसाधने नक्षत्रसाधनसपूर्ण ॥ तुर्य प्रकाश सपूर्ण ॥

पचम प्रकाश के अन्त में—

मलयगिरि सुरगिरिवर ज्योतिर्धत्तेऽत्र शिरिशिरि सुवृत्या। तस्मात् कांचन शोभा तनोति विनासनविमल ॥१॥ तद्ज्ञानभूषणश्रीमालंकार करोति त्रिभुवनत। योगाभोग नो। सोऽयस्तु निस्तीर्ण ॥ इति श्री जैनतिथिपत्रसाधने योगद्वार पष्टांश राशि पूर्ण। पचम प्रकाशोऽपि सपूर्ण। जगद्गुरो श्री मलयाचलस्य। प्रभानतो ज्ञान भूषणेन। विभूष्यते य करणाधिकाराद्गध स्फुर ज्योतिरपासुतप ॥१॥

षष्ठ प्रकाश के अन्त में—

मलयगिरि गरीय श्रृगपानानुसगी। भवति नमसि भानुर्भानुभास्वान्मद्दरदो। गुरु विनभुदयेनो तेजयन्मेघमम्नय्। विजयकरणहेतो शश्वदानन्ददायी ॥१॥ सौरप्रभावदवनेपुलक्ष्मी। सा भारतास्याद्ध सुधासुधाया। श्री ज्ञानसद्भूषण पास्य धृत्या। ज्योतिर्मदीयस्तरमभ्युदेति ॥२॥ इति श्रीजैनतिथिपत्रसाधन। षष्ठमका

सप्तम प्रकाश के अन्त में—

इति चतुर्दशपचदश सप्तदश
रूपैरच चतुर्मिद्वारै सपूर्णोऽय
ज्योति प्रकाश सप्तमः
जयशैल श्रीगुरु शीलशाली।

तदनुदनुपूज्यः सूरि सूर्योऽपि हीरः।
कनकविमलशोलोन्मालिदर्हन्मतश्रीः।
कमलमधुरकांतिर्वल्लभः सिद्धि वद्धवाः ॥१॥
तदनुविदित कीर्तिश्चारु—

प्रति परिचय—पत्र ५१ प्रति पृष्ठ पंक्ति ८ व प्रतिपंक्ति अक्षर ३० । मध्य के ९।१६।४४ का व अन्त्य का पत्र नहीं मिला। पाठ अधिकांश अशुद्ध है, ऊपर मूल की रक्षा के लिये ज्यो के त्यों प्रशस्तियों में पाठ रखे गये हैं।

१६-११-४८ बीकानेर]

कलिङ्गाधिपति खारवेल

[ले०—श्रीयुत प्रो० बा० खुशाल जैन एम० ए०, साहित्याचार्य, आदि]

मूलाधार हाथीगुम्फा लेख—

'बुद्धि नार्हस्य की पुत्री है।' इस पाश्चात्य तथ्य को सम्भवतः प्राचीन भारतीय संस्कृति में स्थान नहीं था। यहां तो आत्माख्यान भी शील और संकोच के साथ करना ही शिष्टता थी, यही कारण है कि संस्कृति के प्रथम प्रतिष्ठापक भारतीय महापुरुषों के स्पष्ट परिचय भी नहीं मिलते हैं। जो मिलता है उसमें भी समय, पद प्रतिष्ठा आदि का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, क्योंकि 'आत्म प्रशंसा' और परदोषोद्भावन के दोष से बचने के लिए उसे लक्ष्य अथवा व्यङ्ग्य बना दिया जाना अनिवार्य था। परिणाम यह हुआ कि जब योरोपीय विद्वानों ने अपनी उक्त दृष्टि के अनुसार भारतीय संस्कृति और समाज की प्रचीनता की थाह लेनी चाही तो वे निराश हुए और उन्होंने भारतीय विद्वानों तथा नायकों पर 'ऐतिहासिक रुचि शून्यता' का आरोप कर दिया। जिस देश के सिद्धान्त तथा पुराण ग्रन्थों में दशसागर कोटाकोटि वर्ष का क्रमबद्ध वर्णन मिलता है, उसी देश के, आजसे लगभग दो हजार वर्ष पूर्व हुए महापुरुष (सम्राट् खारवेल) का काल निर्णय इसीलिए नहीं हो पा रहा है कि उसने अपने समय का संवत अपने पूर्वज राजाओं की अपेक्षा' से दिया है, जैसा कि हाथी गुम्फा शिलालेख में आये "पनंतरिय सठि वससते राजा मुरिय काले वोच्छिन्ने च चोयठिंग सतकोतारिय च उपादयति[1]।" उद्धरण से स्पष्ट है।

हाथीगुम्फा शिलालेख का महत्त्व—भारतीय इतिहास में प्रियदर्शी राजा अशोक के शिलालेख सर्व प्रथम हैं। भगवान महावीर और बुद्ध के समय से लेकर ईसा संवत् के प्रारम्भ तक के इतिहास के ये परम प्रकाशक तथा प्रतिष्ठापक हैं। इनके बाद आज तक उपलब्ध शिलालेखों में कलिङ्गाधिपति ऐल खारवेल का हाथीगुम्फा शिलालेख वेन्भि के नानाघाट शिलालेख के बाद गिना जाता है। अथवा अशोक लेखों के बाद खोदा गया यह दूसरा शिलालेख है। किन्तु मौर्य-पूर्व काल की वंश परम्परा तथा काल गणना की दृष्टि से इसका महत्त्व अशोक लेखों से भी अधिक है। देश में उपलब्ध

---

१ ज० ए० सो० ब०, पु० ११, फो० इण्प० इ०, पु० १ पृ० ३०, ए० सि० बो, इपरा० ओरि०, भा० ३ विभा० २ पृ० १२४-५७, ज० बि० ओ० रि० सो०, पु० ३ पृ० ४२१-६१, आदि पंक्ति १६।

शिलालेखों में यही एक मात्र लेख है जिसमें वंश[1] तथा वर्ष संख्या[2] का स्पष्ट उल्लेख है। स्व० रा० पा० बनर्जी के मत से यह पौराणिक वंशावलियों की पुष्टि करता है तथा ऐतिहासिक काल गणना को ल० ४५० ई० पू० तक पहुंचा देता है[3]। जहां तक तत्कालीन राज्य व्यवस्था, सामाजिक अवस्था, राजा की योग्यता तथा कर्त्तव्य आदि का सम्बन्ध है यह १७ पंक्तिका शिलालेख अत्यन्त स्पष्ट है क्योंकि इसमें दत्त जनसंख्या आदि का चाणक्य के अर्थ शास्त्र, मेगस्थने, आदि के उद्धरणों से होता है। भगवान् महावीर के निर्वाण के लगभग सौ वर्ष बाद ही जैनधर्म किस प्रकार उड़ीसा मे पहुंचा और राज्यधर्म बन गया इसका तो यह दर्पण ही है। आज विभक्त उड़ीसा और बिहार प्रान्तों के ल० २००० वर्ष प्राचीन सम्बन्ध को भी यह बताता है। तथा हजारों वर्षों से पराधीन भारत जब १६ मास पूर्व स्वतंन्त्र हुआ और आज अपने मूल नामका पोषक पाषाणोत्कीर्ण प्रमाण इसलिए चाहता है[4] कि स्वतंत्र भारत के प्रथम प्रधान मंत्री को 'भारत' नाम की पौराणिकता के साथ ऐतिहासिकता का भी भान हो सके, तब भी हाथीगुंफा शिलालेख ही वह प्राचीनतम शिलालेख है जिसकी दशमी पंक्ति में 'भरध-वस' (भारतवर्ष) के दर्शन होते हैं[5]

शिलालेख का आकार प्रकार—उड़ीसा प्रान्त के पुरी जिले में स्थित भुवनेश्वर स्थान से तीन मील की दूरी पर 'खण्डगिरि' नामका साधारण ऊँचा पर्वत है। इसके उत्तरी भाग की 'उदयगिरि' नाम से ख्याति है। इस उदयगिरि पर्वत में एक कृत्रिम गुफा है जो हाथीगुंफा नाम से विश्रुत है। इसी गुफा के मुख तथा छत पर सम्राट्

---

१ उक्त, पंक्ति २-३।

२ "पंचमे च दानी वसे नंदराज ति० वस-सत-ओघाटितं...इत्यादि।" व उक्त पंक्ति ६, ११ तथा १६।

३ ज० वि० ओ० रि० सो०, पु० ३, पृ० ४८ ६

४ श्री० प्रा० नगेन्द्रनाथ घोष की अभिनव पुस्तक (अरली हिस्ट्री ओफ इण्डिया पृ० १८६-९४) देखने के बाद सम्राट् खारवेल के समयादि का सूक्ष्म अध्ययन करने की इच्छा हुई ही थी, संयुक्त प्रान्तपति मा० बाबू पुरुषोत्तम दास टण्डन ने प्रश्न किया क्या प्राचीन शिलालेखों में 'भारत' नाम आया है? यतः मुझे इस शिलालेख में आये 'भरधवस' की अस्पष्ट स्मृति थी अतः 'हां' कहना ही चाहता था कि उन्होंने भा० प्राचीन इतिहासज्ञ एक आचार्य का नाम लेकर कहा कि वे कहते हैं कि नहीं आया है, तब मैं चुप रह गया। किन्तु शिलालेख देखने के लोभ का संवरण न कर सका और अनायास ही अभीप्सित प्रारब्ध हो गया।

५ "दसये च वसे महघीत, मिसमयो भरध-वस-पथानं महि मयनं...ति कारापयति।"... पंक्ति १७ (ज० वि० ओ० रि० सो०, पु० २, पृ० ४२७)

खारवेल का शिलालेख उत्कीर्ण है। लेख की लम्बाई १५ फी० १ इ० तथा चौड़ाई ५½ फी० है तथा लं० ८८ वर्गफीट क्षेत्रफल है। इसमें सत्तरह पंक्तियाँ हैं और प्रत्येक पंक्ति में ९० से १०० तक अक्षर हैं। अक्षरों की ऊँचाई भी ⅓ इ० से ३½ तक है। यह एक सफेद निसाप की शिला पर खुदा है जिसका नीचे का भाग उभरा हुआ है। दो हजार वर्ष से सतत पड़नेवाले आतप वृष्टि के आघातों का प्रभाव स्पष्ट है। प्रारम्भिक पाँच पंक्तियां ही अच्छी हालत में हैं। ७ से १० पंक्ति तक में प्रथम दो अथवा तीन शब्द ही पढ़े जा सकते हैं। ७ से १३ पंक्ति तक के दक्षिणार्थ की पर्याप्त हानि हुई है। अन्तिम ७ पंक्तियों के प्रारम्भिक दश-ग्यारह अक्षर लुप्त हो हो गये हैं। तथा अन्तिम चार पंक्तियों में कई जगह अक्षर उचट गये हैं। शिलालेख के ऊपर बने छिद्रों को देखकर अनुमान होता है कि प्रकृति के प्रभाव से बचाने के लिए इसके ऊपर छाया की व्यवस्था की गयी थी जो अधिक समय तक न चली। और इस पाषाण-इतिहास की क्षीयमान अवस्था वैज्ञानिक उपचार की अपेक्षा करती है।

लेख की भाषा अर्द्धमागधी तथा जैन प्राकृत मिश्रित अपभ्रंश है। डा० का० प्र० जैसवाल के मत से यह प्राचीन पाली से बहुत मिलती जुलती है। श्री ब्यूलर ने लिपि का सूक्ष्म अध्ययन करके बताया था कि यह उत्तर भारतीय ब्राह्मी है, जिसका समय लं० १६० ई० पूर्व आँका जा सकता है। क्योंकि ब्राह्मी लिपि के विकास का यह समय था जिसमें हुए उसके परिवर्तन और परिवर्द्धन का सरलता से अनुमान किया जा सकता है।

लेख के प्रारम्भ में प्रथम पंक्ति की बाँयी ओर मुकुट तथा स्वस्तिक के आकार हैं तथा समाप्ति पर खारवेल नाम के बादहा गोष्पद मन्त्र (नन्द्यावत) चिन्ह हैं। इनके अतिरिक्त चतुर्थ चिन्ह वृक्ष का है जो संभवत अशोक वृक्ष का सूचक हैं। ये चारों चिन्ह जैन मान्यता के स्वस्तिक, दर्पणादि अष्ट मंगल द्रव्यों में से हैं। इनमें प्रथम तथा चतुर्थ चिन्ह अन्यत्र भी उपलब्ध हुए हैं।

शिलालेख का प्रकाशन—सन १८२५ में सबसे पहले इसपर श्री स्टर्लिंग[1] (Stirling) की दृष्टि पड़ी थी। सन १८३७ में श्री किटो (Kittoo) ने स्वयं देखकर इसकी प्रतिलिपि ली थी, जिसके आधार श्री प्रिन्सेप[2] (Princep) ने इसे मुद्रित किया था। एक दूसरी प्रतिलिपि के आधार से ४० वर्ष बाद १८७७ ई० में श्री कनिंघमने[3] इसे

१ एशियाटिक रिसर्चेज पु० १५, पृ० ३१३ आदि।

२ जर्नल ओफ एशियाटिक सोसाइटी ओफ बंगाल, वोल् ६०, पृ० ११।

३ कोरपस इन्सक्रिपशन इण्डिकेरम, पु० १, पृ० २७, ९० १८।

मूल

१ पंक्ति—(वर्द्धमानक तथा स्वस्तिक चिन्ह) नमो अरहंतानं [।][1] नमो सवसिधानं [।] ऐरेन[2] महाराजेन महमेघनाहनेन चेत[3]राजवस-वधनेन पसथ सुलभलखनेन चतुरंतल थुन[4]-गुनो पहितेन कलिंगाधिपतिना सिरि खारवेलेन[5]

२ पंक्ति—

पंदर वसानि सिरि-कडार[6]-सरखिता कीडता कुमारकीडिका [।] ततो लेख रूपगणना-ववहार-विधि-विसारदेन सवविजावदातेन नव वसानि योवराज[7] पसासितं [।] संपुण-चतुवी[8]सति-वस्ते त[9]दानि व[10]धमान सेसयोवे (= व) नाभिविजयो[11] ततिये

भाषा

अरहंतो को नमस्कार [।] सब सिद्धों को नमस्कार [।] ऐल[1] महाराज मेघवाहन[2] [।] चेतराज वंशकी प्रतिष्ठा के प्रसारक प्रशस्त शुभलक्षण युक्त चारों दिशाओं (विश्व) के आधार स्तम्भ के गुणों से विभूषित कलिंग देश के राजा श्री खारवेल के द्वारा

(अपने) कान्त प्रतापी गौरवर्ण[3] किशोर शरीर द्वारा पन्द्रह वर्ष पर्यन्त कुमार क्रीडाएँ करता है [।] इसके उपरान्त लेख मुद्रा राजगणित धर्म[4] (शासन नियम) तथा शासन संचालन[5] में पारंगत समस्त कलाओं[6] में प्रवीण (उसने) नौ वर्षतक युवराज पदसे शासन करता है। चौबीसवाँ वर्ष समाप्त होनेपर पूरे यौवन भर उत्तरोत्तर विशाल विजेता[7] (उसका) कलिंग के तृतीय राजवंश में पूरे जीवन के लिये महाराज्याभिषेक होता है [।

---

१ लेखमें विरामादि के चिन्ह नहीं है किन्तु बड़ा रिक्त स्थान पूर्ण विराम (।) तथा छोटा अर्ध विरामादि का सूचक है।

२ बन० 'खरेन' पाठ दिया है।

३ 'चैत' भी पढा जा सकता है।

४ ल्यू० बन० ने 'ठात' पढा था

५ इसके बाद नन्द्यावर्त का चिन्ह है।

६ ल्यू० ने कुमार पढा था।

७ 'योवरजम्' भी पढ़ा गया था।

८ 'वि' भी पढ़ा गया था।

९ ल्यू० बत० ने 'च' पढ़ा था। बन० 'च' के साथ 'ति, भी पढते है।

१० 'चुधमेन' पढ़ा गया था।

११ ल्यू० का 'वतिपे' भ्रान्त पाठ है ल्यूडरस भी 'ततिपे' मानते है।

१ आर्यका अपभ्रंश रूप है।

२ 'महेन्द्र' आदि के समान उपाधि है। ल्यू० का महामेघ तुल्य वाहन (हाथी) युक्त अर्थ सगत नहीं प्रतीत होता।

३ 'कडारं तृण-वह्निवत्' न जानने से ल्यू० ठीक अर्थ नही कर सके थे।

४ व्यवहार का तात्पर्य शासन के समस्त नियमो से है। इस अर्थ मे एक शब्द 'धर्म' भी आता है।

५ विधि से अद्यततीय 'एक्जीक्यूटिव' अभीष्ट है

६ कामसूत्र के अनुसार विद्या शब्द कला के अर्थ में भी आया है।

७ 'भावी शेष यौवन मे एसे विजवे की जो धर्मानुकूल होकर भी विकराल भेट लायी।' भ्रान्त अर्थ है।

सोमदेवसूरिका आर्थिक दृष्टिकोण

[ले०—श्रीयुत प्रो० रमेशचन्द्र एम० ए०]

प्राचीन भारत सभ्यता का केन्द्र था। आज इस देश की हृदय द्रावक दरिद्रता को देखकर बहुत लोगों को यह भ्रमात्मक धारणा हो जाती है कि प्राचीन भारतियों ने अर्थशास्त्र आदि सामाजिक विज्ञानों का सूक्ष्म अध्ययन नहीं किया था। पर समीक्षा करने से यह ज्ञात हो जायेगा कि पुरातन काल से ही इस देश में सामाजिक शास्त्रों का—अर्थशास्त्र आदि का विशद अध्ययन किया जाता था। कूटनीति के प्रकाण्ड पण्डित कौटिल्य का अर्थशास्त्र उपर्युक्त विचार धारण करनेवालों के भ्रम को दूर करने वाला है। ऋषि कौटिल्य के अतिरिक्त अन्य शास्त्रकारों ने भी अर्थ से संबंध रखने वाले विषयों पर ग्रन्थ लिखे है। सोमदेवसूरि ऐसे ही मार्मिक विद्वानों में से एक हैं। जिस प्रकार अंग्रेज अर्थ-शास्त्री आदम स्मीथ के विचारों को फ्रांसीसी लेखक जे० बी० से (J. B. Say) ने फ्रांस आदि देशो में फैलाया, उसी प्रकार सोमदेव ने कौटिल्य के विचारों को प्रस्फुटित किया। सोमदेव ने अपनी प्रतिभा के बल पर स्वतंत्र रूप से भी उनके नवीन आर्थिक नियमों को सूत्र रूप में जनता के सामने रखा। इनकी जो पुस्तकें उपलब्ध है, उन्हीं से पता चलता है कि ये अर्थशास्त्र, राजनीति, दर्शन तथा साहित्य के पूर्ण पण्डित थे। प्रस्तुत लेख में इनके अर्थशास्त्र सबधी विचारों को स्पष्ट किया जाता है।

सोमदेव देव सघ के आचार्य थे। दिगम्बर सम्प्रदाय के सुविख्यात चार संघों में देवसंघ प्रमुख है। इनका समय दशवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है और इनकी सुप्रसिद्ध रचना यशस्तिलकचम्पू। नीतिवाक्यामृत की प्रशस्ति से पता चलता है कि कम से कम इन्होने युक्तिचिन्तामणि, त्रिवर्गमहेन्द्रमातलिसजल्प और षण्णवति प्रकरण नामक तीन ग्र थों की रचना और भी की थी। नीतिवाक्यामृत सबसे बाद की रचना है। इसके बाद उन्होंने और किसी ग्र थ की रचना की या नहीं—कहना कठिन है। नीचे इनके अर्थशास्त्र सम्बन्धी विचारों की समीक्षा की जाती है।

धर्म, अर्थ और काम इन्हीं तीनों के सेवन का उपदेश इन्होंने किया है। इन तीनों में किसी एक को दूसरे के ऊपर प्रधानता नहीं दी गई है। धर्म और अर्थ के विरोध के बिना काम की अर्थात् इच्छाओं की तृप्ति करना अत्युत्तम है। इसीसे सुख मिलता है। "धर्मार्थाविरोधेन[1] कामं सेवेत ततः सुखी स्यात्"। "समं वा त्रिवर्गं सेवेत"। त्रिवर्ग में किसी

१ नी० वा० कामसमुद्देश सूत्र २, ३

एक को अधिक महत्व देने से अकल्याण होता है। "एको' ह्यत्यासेवितो धर्मार्थकामानामात्मनमितरौ च पीडयति"। मध्ययुग तक सब देशों में अर्थशास्त्र और राजनीति संबंधी बातों पर लिखने वाले विद्वान धर्म को बहुत महत्व दिया करते थे। सोमदेव ने भी इसी परिपाटी को ग्रहण किया था। परन्तु धर्म और अर्थ को बराबर स्थान देकर इन्होंने व्यावहारिक दृष्टि से एक सुधार किया। काम को भी धर्म के बराबर का पद देने से इनके विचार और भी अधिक पुष्ट हो जाते है। अर्थ प्राप्ति के द्वारा काम की तृप्ति होती है। अतएव अर्थ और काम दोनों का सुखपूर्वक सेवन इनके विचारों से सम्भव भी है और उचित भी।

देवसंघ के आचार्य होकर भी इन्होंने अर्थ के वास्तविक महत्व को समझने में भूल नहीं की। अर्थ को इतना अधिक महत्व देना इनकी दूरदर्शिता के कारण ही सम्भव हुआ। इनका यह स्पष्ट विचार था कि धनोपार्जन करने के बाद उसका उपभोग करना चाहिये। साथ ही साथ इनका विचार था कि बहुत कष्ट उठाकर, अपने सुखों को तिलाजलि देकर अर्थ प्राप्ति का प्रयत्न नहीं करना चाहिये। अर्थ की प्राप्ति कष्ट उठाकर करना दूसरों का बोझ ढोने के समान है। अर्थात् व्यर्थ है या मूर्खता है। "परार्थं' भारवाहिन इवात्मसुख निरुन्धानस्य धनोपार्जनम्"। धन का वास्तविक सफलता तभी होती है जब उससे मन और इन्द्रियों की तृप्ति हो। "इन्द्रियमन प्रसादनफला हि विभूतय"। आधुनिक अर्थ शास्त्र विभूति की इस परिभाषा को पूर्णत सही मानते हैं। विभूति के बदले उसे Good कहा जाता है। जिनसे इच्छाओं की तृप्ति हो, उन्हें Good कहते हैं। इनकी अर्थ की परिभाषा भी बहुत व्यापक है और आधुनिक अर्थ शास्त्री उससे पूर्णत सहमत नहीं होंगे। परन्तु देश और काल के अनुकूल उनकी परिभाषा है। क्योंकि—जिससे सब प्रयोजनों की सिद्धि हो, सब कार्य पूर्णता को प्राप्त हों वही अर्थ है[३]। सूक्ष्म समीक्षा करने पर यह परिभाषा बहुत अंश तक ठीक हो जाती है। द्रव्य (Money) के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु से सब इच्छाएँ तृप्त नहीं हो सकतीं। परन्तु यदि एक वस्तु से आवश्यकतानुसार विनिमय द्वारा अन्य वस्तुएँ प्राप्त हो सकें तो एक वस्तु सब प्रकार की आवश्यकताओं का पूर्ति का साधन कही जा सकती है। अत यह कहना उचित होगा कि विनिमय कार्य में आने वाली वस्तुएँ अर्थ (Wealth) हैं। वास्तव में आज भी अर्थ की यही परिभाषा सम्यक् मानी जाती है। विनिमय महत्व तो उन्हीं वस्तुओं का होगा जो कम Scarce (माँग की अपेक्षा कम) प्राप्त होंगी तथा जिनका अधिपत्य

१ उपर्युक्त उ० सू० ४

२ उपर्युक्त उ० सू० ५

३ यत सर्वप्रयोजनसिद्धि सोऽर्थ —अर्थ स० सू० १

बदला जा सकेगा। अर्थात् जो Tranferable होंगी। धन का उपभोग वे ही लोग कर सकते है जो न्यायानुकूल तरीके से उसकी सेवा करते हैं। "सोऽर्थस्य भाजन योऽर्थानुबन्धेनार्थमनुभवति"। अर्थानुबन्ध अर्थात् न्यायानुकूल तरीके से धन का उपयोग करना सर्वथा उचित है। जो धन पास में नहीं हो, उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये, जो प्राप्त हो जाय उसकी रक्षा करनी चाहिये। और रक्षित धन को बढाने की चेष्टा करनी चाहिये। इन्हीं प्रयत्नों को अर्थानुबंध अर्थात् न्यायनुकूल तरीकों से धन का उपयोग कहा गया[1] है। पुरुषार्थ द्वारा धनोपार्जन करना, उपार्जित धन को नष्ट होने से बचाना तथा प्राप्त धन का सदुपयोग करके उसकी वृद्धि करना ही उचित कर्त्तव्य है। पुरुषार्थ छोड़ बैठना उचित कर्त्तव्य नहीं है।

अर्थ को उचित कार्यों में प्रयुक्त करना चाहिये। अनुचित कार्यों में लगाने से धनका नाश हो जाता है। अतएव बुद्धिमान्को धन विश्वसनीय व्यक्तियोंको ही देना चाहिये। सोमदेवने धन के उचित उपयोग के लिये 'तीर्थ' शब्द का प्रयोग किया है। सामान्यतः तीर्थ से तात्पर्य उन लोगो से है, जो धर्म कार्यों में सहायक होते है। विशेषतः तात्पर्य उन लोगों से भी है, जो सब कार्यों में—महान् कार्यों में सहायक होते हैं। "धर्मसमवायिन कार्यसमवायिनश्च पुरुषास्तीर्थम्। तीर्थमर्थेनासंभावयन् मधुच्छत्रमिव सर्वात्मना विनश्यति"[2]। संभवतः उपर्युक्त सूत्रों द्वारा सोमदेवका तात्पर्य यही था कि पूँजी अनुचित कार्यों में नहीं लगानी चाहिये। पूंजी लगानेवाले व्यक्तिको काफी सोच समझकर कार्य करना चाहिये। संभवतः उस समय बहुत से लोग कर्ज लेकर नहीं चुकाते थे और बहुत से लोग धनको भोग की वस्तु समझ कर उसकी वृद्धि के लिये प्रयत्नशील नहीं होते थे। आगे के सूत्रों में यह भी बताया गया है कि किस प्रकार के लोगोंका अर्थ नष्ट हो जाता है। उनका कहना है कि तादात्विक, मूलहर और कदर्य इन तीन प्रकार के लोगोंका धन नष्ट हो जाता है[3]। धनका समुचित उपार्जन ही आवश्यक नहीं है, वरन् उसका उचित उपयोग भी महत्वपूर्ण है। पाश्चात्य लेखकों ने उन्नीसवीं शताब्दी के अन्ततक उचित उपभोगका महत्व ठीक-ठीक नहीं समझा था। खर्चको काबू में रखना आर्थिक विकास के लिये आवश्यक है। तादात्विक वे ही लोग है, जो इतना भी नहीं जानते कि उनकी प्रमुख आवश्यकताएँ क्या है और जो धनका अपव्यय करते हैं। आय से अधिक खर्च करनेवाले लोग भी तादात्विक है। "यः किमप्यसचित्योत्पन्नमर्थ व्ययति स तादात्विकः"। तादात्विक वह व्यक्ति है, जो स्वयं धनका उपार्जन करता है, पर खर्चपर नियन्त्रण नहीं कर पाता। तादात्विक से भी खराब उन लोगोंको समझा गया है, जो स्वयं धनका उपार्जन

१ अलब्धलाभो लब्धपरिरक्षणं रक्षितपरिवर्द्धनं चार्थानुबन्ध.—अर्थस० सू० ३

२ अर्थ स० सू० ४-५

३ तादात्विकमूलहरकदर्येषु नासुलभः प्रत्यवायः—अर्थ स० सू० ६

भी नहीं करते तथा अन्यायपूर्वक, बेकार कार्यों में पिता, पितामह आदि के द्वारा अर्जित धनको खर्च करते हैं। ऐसे व्यक्ति मूलहर हैं। आजकल ऐसे लोगोंको मुफ्त का धन खानेवाला (reutier) कहा गया है। ये शोषकवर्ग के हैं। अधिकाधिक कर लगाकर इन लोगों से धन ले लेना चाहिये। "य पितृपैतामहमर्थमन्यायेन भक्षयति स मूलहर"। इन दोनों से बुरा कदर्य है, क्योंकि वह न स्वय उपभोग करता है और न दूसरों को ही धनका उपभोग करने देता है। वह कम मजदूरी देकर, दुखी दुर्बल जनता का शोषण करता है और अपना धन बढ़ाने का प्रयत्न करता है। ऐसे लोगों के कारण ही देशकी पूजी कम हो जाती है। सूक्ष्मदर्शी होने के नाते सोमदेव स्पष्टत जानते थे कि भृत्योंको कष्ट देकर द्रव्य जमा करनेवाला कदर्य स्वय धनका उपभोग नहीं कर सकता और उसके धनका उपभोग उसके दामाद, राजा अथवा चोर करते हैं। "यो भृत्यात्मपीडाभ्यामर्थं सचिनोति स कदर्य। कदर्यस्यार्थसग्रहो राजदायादतस्कराणामन्यतमस्य निधि"। तादात्विक और मूलहर का नाश भी अवश्यम्भावी है। "तादात्विकमूलहरयोरायत्या नास्ति कल्याणम्"।

अपने समय के अनुकूल सोमदेव व्यक्तिगत सम्पत्ति के पक्षपाती थे। दूसरों की सम्पत्तिपर दृष्टि डालनेवालेको बुरा समझा गया है। परधन के प्रति निस्पृह व्यक्ति देवता है। देवसघ के आचार्य होकर भी व धन सम्बन्धी मानवीय दुर्बलता की शक्ति से परिचित थे "कस्य न धनलाभाल्लोभ प्रवर्तते"। इस पृथ्वी म कौन ऐसा है जिसे धनका लोभ नहीं हो जाता। इटली के सुप्रसिद्ध लेखक मैकियावेली (Machiavelli) ने लिखा है कि मनुष्य अपने पिता की हत्याको भूलकर हत्यारेका मित्र हो सकता है, पर वह अपनी सम्पत्तिका अपहरण करने वालेको नहीं भूलेगा। सोमदेवका कथन है कि जिन मत्रियोका जीविका अपने अथवा राजा के दोष से अपहृत होती है, वे क्रोधी, कायर, लोभी तथा अभिमानी हो जाते हैं। "स्वामिदोष स्वदोषाभ्यामुपहतवृत्तय क्रुद्धभीतलुब्धमानिन कृत्या"। सम्पत्तिका निरादर करने से सम्पन्न से सम्पन्न व्यक्ति भी दरिद्र हो जाता है। अतएव लक्ष्मीकी पूजा करनी चाहिये। धनको ठुकराना अनुचित है। "अर्थदूषण कुबेरोऽपि भवति भिक्षाभाजन" अर्थदूषण से कुबेर भी भिक्षुक हो जाते है। अतिव्यय और अपात्रव्यय यही दो धनसम्बन्धी दोष है। सम्पत्तिदानको भी बहुत महत्व दिया गया था। आजकल व्यक्तिगत दान श्रेयस्कर नहीं कहा जाता है क्योंकि बहुत से अपात्रोंको सहायता मिल जाती है और भिक्षा मॉगना तथा दान लेना ही बहुत लोगोंका पेशा हो जाता है। परन्तु उस समय जब सोमदेव लिख रहे थे, दान देना भारतीय सस्कृति के अनुकूल समझा जाता था। 'सप्रियो लोकानां यो ददात्यर्थम्"। इतना होनेपर भी कुपात्रको धन देना बुरा बताया है। "किं तया गवा या न क्षरति क्षीर न गर्भिणी वा"। सम्पत्ति का सबसे अधिक महत्व यही है

१ अय स० सू० १०

कि लोग सम्पत्ति वाले की ही सेवा करते हैं। सम्पत्ति के विना सभी तुच्छ हो जाते हैं "को नाम न धनहीनो भवति लघुः"।

राज्य की रक्षा के लिये आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बनाये रखना आवश्यक समझा जाता था। अमात्यों के कर्त्तव्य का निर्देश जहाँ किया गया है, वहाँ राजा की रक्षा से भी अधिक महत्व आर्थिक दृढ़ता को दिया गया है। "आयो व्ययः स्वामिरक्षा तंत्रपोषण चामात्यानामधिकारः। आयव्ययमुखयोर्मुनिकमण्डलुर्निदर्शनमेव" आय से ही द्रव्य की उत्पत्ति होती है। "आयो द्रव्यस्योत्पत्तिमुखम्" शासन में आयव्यय का विशेष महत्व है। आय पर विना विचार किये खर्च करने वाला राजा कुवेर-सा संपन्न होकर भी निर्धन भिक्षुक हो जायगा। "आयमनालोच्य व्ययमानो वैश्रवणोऽप्यवश्यं श्रमणायत एव"। यद्यपि राजस्व का इतना अधिक महत्व है, तथापि अन्यायपूर्वक, प्रजा का मन दुखा कर अर्थसंग्रह नहीं करना चाहिए। "स्वल्योऽप्यादायेष प्रजोपद्रवो महान्तमर्थं नाशयति"। अन्यायपूर्वक धन का संग्रह करने पर प्रजा में उपद्रव हो सकता है तथा उपद्रवों के कारण अत्यधिक धन का नाश हो सकता है। महान अर्थशास्त्री आदम स्मीथ ने भी कर (राजस्व) के सिद्धन्तों में न्याययीलता (equity) को सर्वप्रथम स्थान दिया था। जब प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट होता है, तो राज्यकोश कम हो जाता है। कर के सिद्धान्तों में सुविधा (Convinience) का प्रमुख स्थान है। आर्थिक सकटों के कारण राज्यकोश कम हो जाता है "सर्वबाधा प्रजानां कोशं पीडयति"।

राज्यकोश ही राजाओं के लिये प्राण के समान आवश्यक है और राज्यकोश कम हो जाने पर राज्यशक्ति क्षीण हो जाती है। "कोशो हि भूपतीनां जीवितं न प्राणाः[1]"। राज्यकोश कम हो जाने पर राजा अन्यायपूर्वक प्रजा को लूटता है और इस अन्याय के कारण राजशक्ति क्षीण हो जाती है तथा राजा नष्ट हो जाता है। सोलहवीं, सत्तरहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी में इंगलैंड में मेर्न्टिलिस्ट्स (Mereantilists) के नाम से प्रख्यात अनेक विद्वानों ने राज्यकोश तथा राष्ट्रधन की वृद्धि पर जोर दिया था। आधुनिक अर्थशास्त्र के महत्व को उन्हीं लोगों ने पहले पहल आमजनता के सामने छोटे छोटे लेखों द्वारा रखा। बली राष्ट्र के लिये धन जनसम्पन्न होना आवश्यक है और दरिद्र राष्ट्र का राजा भी दुर्वल होता है। सोमदेव अर्थ के इस महत्व से भलीभाति परिचित थे। "कोशो राजेत्युच्यते न भूपतीनां शरीरं।" मध्ययुग तक युद्ध में सैन्यबल की प्रधानता रहती थी और जिसके पास सेना अधिक होती थी, उसे विजयो पेहार मिलता था। यूरोपीयदेशों में मध्ययुग के वाद युद्ध में सफलता प्राप्त करने के लिये धन का महत्व ज्ञात हुआ। सोमदेव ने दशवीं शताब्दी में धन के वास्तविक तथ्य को समझ लिया था। "यस्य हस्ते द्रव्यं स जयति"।

[1] कोश स० सू० ५

अर्थप्राप्ति की इच्छा रखकर निर्धन कुलीन और सदाचारी व्यक्ति की सेवा करना निरर्थक होगा। क्योंकि कुलीनता अथवा सदाचार के रहते हुए भी धनहीन व्यक्ति धन नहीं दे सकेगा। अतएव बुद्धिमान व्यक्तिको निर्धन होने पर कुलीन और सदाचारी व्यक्ति की सेवा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि वही व्यक्ति बड़ा कुलशील है, जिसके पास धन हो। अपार धन साधारण व्यक्ति को भी कुलीन बना देता है। जो व्यक्ति कुलीन अथवा महान होकर भी दूसरे का भरणपोषण न कर सके, उसकी महत्ता तथा कुलीनता व्यर्थ है "किं तया कुलीनतया महत्तया वा या न सन्तर्पयति परान्"। निर्मल बड़े तालाब का क्या महत्त्व[११] है ?

सोमदेव ने केवल राज्यकोश के अभाव के कष्टों का तथा अपमानों का ही वर्णन नहीं किया है, पर उस अभाव की पूर्ति करने, राज्यकोश की वृद्धि करने का उपाय भी बताया है। राज्यकोश की वृद्धि के चार उपाय हो सकते हैं। देव, द्विज और वणिकों द्वारा धन का उपयोग होना है और जो धन बच जाय वह राजा के हाथ में आ जाना चाहिये। देव और द्विज का धन सम्भवत धर्मकार्यों में लगाये गये धन का बोधक है। धर्मकार्य से यहाँ मतलब निर्वाहकार्य से है। साधारण जनता का जिस धन से निर्वाह होता है, उसे लेना ठीक नहीं होगा। आज भी राज्यकोश की वृद्धि के लिये निर्वाह कार्य के लिये आवश्यक धन पर कर लगाना अनुचित समझा जाता है। वणिकों का धर्मकार्य केवल निर्वाह कार्य नहीं है, पर पूँजी की वृद्धि करनी है। राज्यकोश की वृद्धि के लिये वणिकों के उस धन का अपहरण अनुचित होगा जिससे वे अपनी पूँजी की वृद्धि करते हैं। आधुनिक लेखक भी उस कर को बुरा मानते हैं, जिससे देश की पूँजी कम हो जाने का भय होता है।

पुन, उन लोगों से प्रचुर परिमाण में अर्थ ग्रहण करना उचित है, जिनसे समाज को लाभ के बदले हानि है तथा जिनके पास धन रहता है तथा बेकार पड़ा रहता है। विधवाओं से तथा वेश्याओं से धन ले लेना चाहिये। विधवाओं से धन लेना आज बुरा लग सकता है, पर उस युग में विधवाओं को कष्टपूर्वक सयमित जीवन व्यतीत करने का उपदेश दिया जाता था तथा ऐशोआराम में धन का दुरुपयोग करने वाली विधवाओं के लिये ही यह विचार प्रकट किया गया था। इसके अतिरिक्त नियोग करने वाले, ब्रह्मचारी, सघ (देवपूजक) मठादि तथा पाखण्डियों से भी धन ले लेने का आदेश सोमदेव ने दिया है। सम्भवत नियोग करनेवाले तथा सघों से सोमदेव का तात्पर्य वैसे लोगों से है, जो अर्थोत्पादन का कार्य नहीं करते हैं। ये लोग समाज से स्वय अपना पोषण कराते हैं, पर समाज को कुछ देते नहीं। इन लोगों के पास धन रहना व्यर्थ ही है। धनाढ्यों को भी धन राज्यकोश की वृद्धि के लिये देना चाहिये।

११ तस्य किं सरसो महत्त्वं यत्र न जलानि—कोश स० सू० १३

संभवतः सोमदेव का तात्पर्य आढ्यों से धन लेना अर्थात् धनी से आनुपातिक दृष्टि से अधिक धन लेना है यानी Propressive taxes (ऐसे कर जिनका भार धनिकों पर अधिक पड़े) लगाना है। आजकल सभी अर्थ शास्त्री एक स्वर से ऐसे कर को उत्तम समझते हैं। गाँव में व्यवहार करने वाले ग्रामकूट (village moneylenders) से भी धन ग्रहण करना चाहिये। समृद्ध पड़ोसी, परिवार के अन्य लोग, सामन्त आदि से भी धन माँग कर लेना चाहिये। आजकल युद्ध काल में जब राज्य धन की आवश्यकता से पीडित होता है, तो लोगों के पास अपील की जाती है, जनता से सहायता की प्रार्थना की जाती है। अन्य राजाओं से तथा मंत्रियों से, सामन्तों से तथा सेनापति आदि से भी धन मांगना आवश्यक हो सकता है। संभवतः यहां कर्ज मांगने का तात्पर्य है।

"देवद्विजवणिजां धर्माध्वरपरिजनानुपयोगिद्रव्यभागैराढ्यविधवानियोगिग्रामकूटगणिका-संघपाखण्डिविभवप्रत्यादानैः समृद्धपौरजानपदद्रविणसंविभागप्रार्थनैरनुपत्तयश्रीका मंत्रीपुरो-हितसामन्तभूपालानुनयग्रहागमनाभ्यां क्षीणकोशः कोशं कुर्यात्।"

सोमदेव कृषि की सुविधा को अधिक महत्वपूर्ण समझते थे और खेती के अयोग्य भूमि को तथा ऐसी भूमि से पूर्ण देश को बुरा समझते थे। अत्यधिक वर्षा भी कृषि के लिये हानिकर है। वह देश उनके विचार से अच्छा नहीं कहा जा सकता, जिसमें फल देने वाले पेडों का अभाव हो, अथवा जहाँ अन्न कम उत्पन्न हो। पर्वतीय भूखण्ड भी वे बुरा मानते थे। जिस देश की जनता अधिक लोभी और कम परिश्रमी हो, उसे भी इन्होंने खराब बताया है (पृष्ठ १९१) (जनपद-समुद्देशः) "विषतृणोदकोषरपाषाणकंटकगिरिगर्तगव्हर-प्रायभूमिर्भूरिवर्षाजीवनो व्याललुब्धकम्लेच्छबहुलः स्वल्पसस्योत्पत्तिस्तरुफलाभाव इति देश-दोषाः"। इसके विवरीत प्रचुर परिमाण में शस्य उत्पन्न करने वाली भूमि से परिपूर्ण, सुवर्णादि खनिज पदार्थों की खानों से भरे, देश को अत्युत्तम बताया है। ऐसे स्थान के लोग दीर्घजीवी, परस्पर मित्रभाव से रहने वाले और एक दूसरे की रक्षा करने वाले होते हैं। "अन्योन्यरक्षकः खन्याकरद्रव्यनागधनवानतिवृद्धानतिहीनग्रामो बहुसारविचित्रधान्य-पण्योत्पत्तिरदेवमातृकः पशुमनुष्यहितः श्रेणिशूद्रकर्षकप्राय इति जनपदस्यगुणाः" (पृ० १९१)

कृषि के इस विशेष महत्व के कारण ही सोमदेव ने फसल काटने के समय युद्ध न करने का आदेश दिया है। फ्रांस में सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में बहुत से लेखकों ने, जिनको अर्थशास्त्र के सर्वप्रथम आधुनिक लेखकों में गिना जाता है, कृषि का महत्व पूर्णरूपेण दिखलाने का प्रयत्न किया था। उनलोगों को फ्रेंच भाषा में प्रकृति के उपासक (Physiocrates) कहा जाता है। सोमदेव ने कृषि के महत्व को पूरी तरह समझा है। "लवनकाले सेनाप्रचारो दुर्भिक्षमावहति" (१९२ पृष्ठ)। परन्तु फ्रांस के उन लेखकों ने कृषि के महत्व को समझते हुए भी अन्य उत्पादन कार्यों को, व्यवसायादि को नगण्य समझा। उन लोगों की धारणा के अनुसार अन्य श्रमजीवी व्यर्थ का कार्य्य करते है, क्योंकि वे जो

कुछ उत्पन्न करते हैं, उसका स्वयं उपभोग कर लेते हैं। उनलोगों के विचार के अनुसार वैसे ही कार्य को उत्पादन कार्य कहेंगे, जिसमें उत्पादक अतिरिक्त आय (Surplus) उत्पन्न करता है। एक दो लेखकों ने खान में काम करने वालों के श्रम को उत्पादक कहा है। सोमदेव की यह विशेषता है कि कृषि की प्रधानता को मानते हुए भी उन्होंने, दूसरे धर्मों को, बुरा नहीं बताया। गोपालन और वणिकों का कार्य भी लाभप्रद था। "सुमहत्त्व गोमण्डल हिरण्याय युक्त शुल्क कोशवृद्धिहेतु" (पृष्ठ १२६)

इस छोटे लेख में सोमदेव के समस्त अर्थ सम्बन्धी विचारों का पूर्ण वर्णन असम्भव है। निस्सन्देह वे केवल अर्थशास्त्रज्ञ ही नहीं थे। जैनधर्म पर बहुत से लोग अनासारिक तथा अव्यावहारिक होने का आक्षेप लगाते हैं, परन्तु देवसंघ के धर्माचार्य की लेखिनी से लिखी गई पुस्तक के थोड़े से सूत्रों के आधार पर ही लिखे गये इस लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त आक्षेप निर्मूल है। सोमदेव ने, अर्थ की महत्ता मानते हुए भी अनर्थ द्वारा अर्थ प्राप्त करने का परामर्श नहीं दिया। मर्यादा का उल्लंघन किये बिना ही अर्थोत्पादन करने की शिक्षा दी। "मर्यादातिक्रमेण फलद यपि भूमिर्भवत्यरण्यानी खर्च नहीं करने वाले राजा को उन्होंने महान अपराधी कहा है, यद्यपि राज्यकोश की वृद्धि पर काफी जोर दिया है। "न हि स्व द्रव्यमव्ययमानो राजा दण्डनीय पृष्ठ (२१५) कि तेन जलदेन य काले न वर्षति"। उस समय जनसंख्या वृद्धि आवश्यक थी, अतएव धर्माचार्य होकर भी, इन्होंने साधारण जनता को विवाहादि करके सुखी जीवन बिताने का आदेश दिया। अविवाहित व्यक्ति के लिये धन अधिक रखना व्यर्थ बताया। "निवृत्तस्त्रीसंगस्य धनपरिग्रहो मृतमण्डनमिव" सोमदेव अर्थ की महत्ता को मानते हुए यह भलीभाँति मानते थे कि निर्धन पुरुष सर्व गुण सम्पन्न होकर भी निर्गुणी हो जाता है। "न दारिद्र्यात्पर पुरुषस्य लाञ्छनमस्ति यत्संगेन सर्व गुणा निष्फलता यन्ति।

सोमदेव ने अर्थशास्त्र पर अलग पुस्तक नहीं लिखी। मध्य युग तक सब देशों में यही प्रचलन था कि अलग अलग राजनीति, अर्थशास्त्र आदि विषयों पर पुस्तकें नहीं लिखी जाती थी। क्योंकि राजनीति की मूल भित्ति अर्थ को ही माना जाता था। सोमदेव की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि सूत्ररूप में इन्होंने बहुत सी अर्थशास्त्र सम्बन्धी उपयोगी और आवश्यक बात राजनीति के सिलसिले में ही कह दी हैं। इनमें संक्षेप में इतनी स्पष्टता से, अपने भावों को व्यक्त करना, उन्हीं जैसे विद्वान के लिये सम्भव था।

विविध-विषय

मथुरा से प्राप्त अंबिका की एक नवीन मूर्त्ति

जैन देवियों में तीर्थङ्कर नेमिनाथ की यक्षी अंबिका का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण रहा है। मूर्त्तिकला एवं चित्रकला दोनों में इस देवी की अनेक प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं। मथुरा कला में भी अंबिका की अनेक प्रतिमाओंका निर्माण हुआ। इनमें सबसे उल्लेखनीय मथुरा संग्राहालय की डी० ७ संख्यक मूर्ति है,[1] जिसमे एक वृक्ष के नीचे सिंह पर बैठी हुई द्विभुजी देवी अंकित की गयी है। देवी की बाईं गोद में एक बच्चा है और दूसरा दाईं ओर खड़ा है। ये दोनों बच्चे सिद्ध और बुद्ध हैं। मूर्त्ति के दाये किनारे पर हाथ मे लड्डू लिये हुए गणेश बैठे हुए हैं और इसी प्रकार दूसरी ओर कुबेर हैं। देवी के ऊपर ध्यानमुद्रा में बैठे हुए तीर्थङ्कर की मूर्त्ति है, जिसके अगल-बगल देव, विद्याधर आदि दिखाये गये है। दुर्भाग्य से इस सुन्दर मूर्त्ति पर प्रहारों के कारण प्रायः सभी आकृतियों के चेहरे नष्ट हो गये है।

हाल मे अंबिका की एक दूसरी मूर्त्ति मथुरा जिले से प्राप्त हुई है, जो यहाँ के प्रसिद्ध चित्तीदार लाल पत्थर की बनी हुई है। यह मूर्त्ति मथुरा नगर से लगभग ११ मील दक्षिण बेरी नामक गाँव में थी। जब मुझे इसकी सूचना मिली तो मैंने उस गाँव में पहुँचकर देखा कि मूर्त्ति एक पुराने चबूतरे पर औंधी पड़ी है। गाँववाले यह जानते थे कि यह किसी देवी की मूर्त्ति है पर खंडित होने के कारण उसे उन्होंने किसी देवस्थान में प्रतिष्ठापित नही किया था। पूजा में न होने के कारण उन लोगोने उसे मथुरा सग्रहालय के लिये देने में आपत्ति नही की। मूर्त्तिको देखने से पता चला कि उसका दाईं ओर का कुछ भाग अवश्य खडित था पर प्रधान प्रतिमा अभग्न थी, केवल उसका चेहरा घिस गया था।

यह मूर्त्ति (मथुरा संग्रहालय संख्या ३३८२) संभवतः किसी मन्दिर के बहिर्भाग में लगी हुई थी। देवी की प्रतिमा दो स्तभों के बीच में उत्कीर्ण है। वह ललितासन पर बैठी हुई है, दायाँ पैर एक कमल-पुष्प के ऊपर रखा हुआ है। बाईं गोद में एक शिशु है, जिसे देवी दोनों हाथों से पकड़े हुए है, जो संभवत स्नेहातिरेकका सूचक है। देवीका केशपाश बडी सुन्दरता से प्रदर्शित किया गया है। उसका कण्ठहार तथा गोल कर्णकुण्डल भी दर्शनीय है। मूर्त्ति के बाएँ किनारेपर एक सिंह अंकित है, जिसके ऊपर नीचे एक-एक मकर है। इनका चित्रण केवल प्रसाधन के रूप में किया गया है। शिलापट्ट के दाईं ओर भी इसी प्रकार का अलंकरण था, जो टूट गया है। मूर्त्ति के ऊपर पत्र-रचना प्रदर्शित की गयी है। प्रस्तुत मूर्त्ति पूर्व मध्यकालीन मथुरा कला का एक सुन्दर उदाहरण है।

कृष्णदत्त बाजपेयी एम० ए०

क्यूरेटर मथुरा म्यूजियम

२ वादीभसिंहसूरि की अपूर्व कृति—स्याद्वादसिद्धि

यह जैनदर्शन का महत्वपूर्ण एवं उच्चकोटि का ग्रन्थ है। यह कारिकाओं में रचा गया है, इसकी प्रस्तुत प्रति अधूरी है १३ प्रकरण पूरे और चौदहवां अपूर्ण है। इसमें ५०१ कारिकाएँ हैं।

इस ग्रन्थ की भाषा सरल, अर्थावगम्य और प्रसन्न है। हाँ, कुछ स्थल ऐसे अवश्य हैं, जहाँ पाठकोंको विषय समझने के लिये थोड़ी देर रुकना पड़ता है। लेखक ने इस दार्शनिक कृति में अपनी काव्यकला का भी पूर्ण परिचय दिया है। जीवसिद्धि, अनेकान्त न माननेवाले बौद्ध के प्रति कर्त्ता के लिये फलभोक्तृत्वाभाव सिद्धि, क्षणिकवादी के प्रति युगपदनेकान्त सिद्धि, क्षणिकवादी के प्रति क्रमानेकान्त सिद्धि नित्यवादी के प्रति कर्त्तृत्व, भोक्तृत्वाभाव सिद्धि, नित्यैकान्त प्रमाण में सन्तानाभाव सिद्धि, सृष्टि कर्तृत्वाभावसिद्धि, अर्हत् सर्वज्ञ सिद्धि, अर्थापत्ति की अप्रमाणता, वेद की पौरुषेयता, अभावप्रमाण की सदोषता, तर्क प्रमाण की प्रमाणता और आत्मा की जड़ता का निषेध, आदि विषयों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है।

प्रथम प्रकरण में भौतिक वादियों की जड़ता का खण्डन करते हुए आत्मा की अनन्य युक्तियों सहित सिद्धि की गयी है। दूसरे में क्षणिक सिद्धान्त का खण्डन करते हुए बताया है कि क्षणिक चित्तसत्तारूप आत्मा धर्मादिजन्य स्वर्गादि फलका भोक्ता नहीं बन सकता। संसार का नियम है कि कर्त्ता ही फल भोक्ता होता है अतः आत्माको सर्वथा नाशशील नहीं स्वीकार करना चाहिये। तीसरे और चौथे प्रकरण में वस्तुको युगपत् और क्रम से अनेकान्तात्मक सिद्ध किया गया है। तथा बौद्धाभिमत सन्तान एवं संवृति की युक्तिपूर्वक मीमांसा करते हुए चित्तक्षणोंको निरन्वय और निरंश मानने में दूषणका उद्भावन करते हुए बताया है कि जब चित्तक्षणों में अन्वय नहीं है—वे सर्वथा भिन्न हैं तो दाताको ही स्वर्ग और वधकको नरक हो, का नियम नहीं बन सकता है। बल्कि मनमाना विपरीत नियम भी बताया जा सकता है।

पाँचवें प्रकरण में आत्माको नित्य माननेपर कर्त्ता के लिये भोक्तापन नहीं बन सकेगा, का विस्तार सहित प्रतिपादन किया है। छठवें में नित्यैकान्त माननेवाले के यहाँ कोई सन्तान नहीं हो सकता है, का विवेचन किया है। सातवें प्रकरण में नाना युक्तियों और प्रमाणों से जगत्कर्तृत्व का निषेध किया है। आठवें में वीतरागी, हितोपदेशी अर्हन्त भगवान्को ही सर्वज्ञ सिद्ध किया है इस प्रकरण का दार्शनिक विवेचन बहुत सुन्दर और तर्कपूर्ण है। नौवें प्रकरण में अर्थापत्ति की अप्रमाणता बतलाते हुए उसे अनुमान के अन्तर्गत ही साबित किया है। दसवें में वेद की रचना किसी पुरुष द्वारा हुई है, उसे ईश्वरने नहीं रचा है और न कोई परोक्षशक्ति ही उसकी रचयित्री है प्रत्युत मनुष्य द्वारा रचा जाने से उसमें गुण-दोष दोनों ही वर्तमान हैं, आदि बातोंपर प्रकाश डाला गया है। ग्यारहवें में प्रमाण की प्रमाणता परतः सिद्ध होती है, का तर्कसंगत विवेचन है। बारहवें में अभाव प्रमाण में दूषण दिया है और तेरहवें में तर्क प्रमाण की प्रमाणता सिद्ध की गयी है। चौदहवें अधूरे प्रकरण में गुण-गुणी भेदादि और समवायादि वैशेषिकाभिमत पदार्थों की समालोचना की गयी है।

इस ग्रन्थ में कुमारिल्ल भट्ट, महाप्रशस्तकर, दिग्नाग और धर्मकीर्त्ति के पद वाक्यादि भी आये हैं। संक्षेपः यह जैनदर्शन की एक प्रौढ और अभिनव रचना है। जिन कुछ कृतियों से जैनदर्शनका वाङ्मयाकाश देदीप्यमान है और मस्तक उन्नत है, उन्हीं में यह कृति भी परिगणनीय है। साहित्यिक संस्थाओ से अनुरोध है कि इस अपूर्व कृतिको प्रकाशित कर, दार्शनिक जगत् को इस उज्ज्वलमणि की आभा से चमकनेका सुअवसर दें।

दरबारीलाल न्यायाचार्य,
वीर-सेवा-मन्दिर, सरसावा

कवि जोधराज गोदीका विरचित—हिन्दी सम्यक्त्वकौमुदी

कवि साह जोधराजगोदीका का जन्म सुप्रसिद्ध सेठ अमरचंद गोदीका के यहाँ हुआ था। आप जयपुर राज्य के निवासी थे। विद्याध्ययन के लिये आपको अनेक कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा था। तेरहपन्थ आम्नाय के अनुयायी थे, इसलिये तत्कालीन भट्टारकों की कृपा से आप वञ्चित थे। फलत. आपने पं० हरिनाम मिश्रको अपना मित्र बनाया और उन्ही से शास्त्रज्ञान प्राप्त किया। आप हिन्दी साहित्य के अच्छे ज्ञाता थे। ज्ञानसमुद्र, कथाकोश धर्मसरोवर, प्रवचनसार, प्रीतङ्करचरित्र और सम्यक्त्व कौमुदी आदि ग्रन्थ आपके द्वारा रचे गये हैं।

संस्कृत सम्यक्त्वकौमुदीका यह अनुवाद बड़ा ही सुन्दर हुआ है। इसमें दोहा, सवैया, सोरठा, छप्पय, चौपाई आदि हिन्दी के सभी छन्दोंका प्रयोग किया गया है। ग्रन्थ के अन्त में ग्रन्थकार ने निम्न प्रशस्ति दी है—

पडित चतुर सुजान है, यहै मिश्र हरिनाम।
ताकी संगति जोधकौ भयो सासतर लाभ॥
परमप्रजा पालै सदा सब भूपति सिरमौर।
रामसिंघ राजा प्रगट या सम नहि कोऊ और॥
जाके राज सुचैन से कियौ ग्रन्थ मह जोध।
नाम सम्यक्त्वकौमुदी दायक केवल वोध॥
सांगानेर सुथान है देश ढुढाहर सार।
या सम नाहिन अवरपुर देखे सहर हजार॥
अमरपूत जिनवर भगत योधराज कविनाम।
वासी सांगानेर को करी कथा सुखधाम॥
धरमदास को पुत्र लघु है जाति लुहाड्या जोय।
नाम कल्याण सुजानिये कवि का मामा सोय॥
ताके पढिवे कारनै रच्यौ ग्रन्थ यह जोध।
नाम सम्यक्त्वकौमुदी जो नर पढै सुबोध॥

रचनाकाल—

सवत सतरहसै चौइस । फाल्गुन वदि तेरसि शुभदीस ॥
शुक्रवार सपूरण भई । यहै कथा सम्यकित गुनठई ॥

अत स्पष्ट है कि कविने अपने मामा कन्याणदास को पढ़ाने के लिये स० १७२४ फाल्गुन वदी १३ शुक्रवार को इसे पूर्ण किया है। प्रस्तुत भवन की प्रति अमरचन्दजी के मन्दिर में सवत् १८०० में भादों वदी १३ सोमवार को सेठ चुन्नीलाल द्वारा प्रतिलिपि की गयी है। श्लोक सख्या १५५० है।

कविता मध्यम दर्जे की है, कहां-कहां छन्दोभग दोष भी है। फिर भी छप्पय और सवैय सुन्दर बन पड़े हैं।

छप्पय—

तबहि पावड़ी देखि चोर नृपति निज जायौ।
देखि मुद्रिका चोर तबै मनी पहिचान्यौ॥
सूत जनेऊ देखि चोर मोहित ह्वै भारी।
पचनि लखि निरतात यहै मनमें जु विचारी॥
नृपति यह मत्री सहित मोहित युत काढ़ीदयौ।
इहि भाँति न्याव करि अनीय विधि धर्म थापि जगजस लयौ॥

४—उड़ीसा के गजेटियर में जैन उल्लेख

हन्टर इन्स्पेक्टरन सन् १८७२ में उड़ीसा के गजेटियर को दो भागों में प्रकाशित किया है। प्रथम भाग में पृ० १८१, २२८, २३० और ३०२ पर जैनधर्म के सम्बन्ध में उल्लेख किया है।

पृ० १८१ पर खण्डगिरिका वर्णन करते हुए बताया है कि पश्चिम पहाड़ीपर एक जैन मन्दिर शोभित है, यह मन्दिर एक चबूतरे के ऊपर है जिसके नीचे का समस्त प्रदेश अपनी प्राकृतिक शोभा से मानवमात्र की भावनाओंको पवित्र करता है। इस पवित्र पहाड़ी के चारो ओर जगलों का अमला वर्तमान है। किन्तु दक्षिण की ओर धान के लहलहाते खेत भी दृष्टिगत होते हैं।

पृ० २२८ पर बताया है कि यूनान से आये हुए यवन प्रथम बौद्ध धर्म में दीक्षित हुए, पश्चात् उन्होंने जैनधर्मका ग्रहण कर लिया था। हन्टर साहबने लिखा है कि यूनान से जब यवन आये तो वे अपने साथ ग्रीक विज्ञान के साथ धार्मिक सुधार की भावना भी लेते आये जोकि इसा पूर्व के भारत के धार्मिक इतिहास में बहुत ही महत्वपूर्ण है। ई० पू० २५०—१००० ई० स० तक यवनों का उदारधर्मों से काफी सम्बन्ध रहा। पुरातन सिक्कों से इस बातका पता चलता है कि उत्तरीय हिन्दुस्तान के यूनानी राजा बौद्धधर्म में दीक्षित हो गये, इसलिये मध्यभारत और दक्षिणभारत में यवन सुधारवादी धर्म के अग्रगामी या प्रतिनिधि माने जाते हैं। कुछ समय के बाद ये यवन बौद्धधर्म छोड़कर जैनधर्मानुयायी बन गये। पृ० २३०—

यद्यपि जैनधर्मके सिद्धान्त बौद्धधर्म की अपेक्षा शुष्क थे, फिर भी यवनोंने इसे स्वीकार कर लिया। क्योंकि बौद्धधर्मका पृष्ठाधार पौराणिक कथा-कहानियों से भरा था; मन्दिर, स्तूप और मठोंका पूर्ण प्रचार था; फिर भी जैनधर्मने यवनों को अपनी ओर आकृष्ट किया।

पृ० ३०२—हिन्दुओंने जब आदिम निवासियोंपर विजय प्राप्त कर ली तो कुछ आदिम निवासियोंने शैवधर्म को ग्रहण कर लिया, क्योंकि यह उनकी भयपूर्ण जंगली धार्मिक कृत्यों की भावना से मिलता जुलता था। किसान और संस्कृत अरण्य निवासियोंको कृष्णधर्म ने अपनी ओर खींचा। फिर भी जैनधर्म और बौद्धधर्म किसी न किसी रूपमें इन आदिम निवासियों में फैले रहे। आदिम निवासियोंका प्रारम्भिक धर्म जैनधर्म था, इनका रहन-सहन जंगली होते हुए भी ये भगवान् पार्श्वनाथ के पूजक थे।

इस गजेटियर के दूसरे भाग के अन्य उद्धरणों के पढ़ने से पता चलता है कि प्राचीनकाल में उड़ीसा में जैनधर्म व्याप्त था। दि० जैनधर्म का यहाँ ई० पू० कम-से-कम ६०० वर्ष पहले अत्यधिक प्रचार था, भगवान् पार्श्वनाथ की मान्यता यहाँ बहुत थी। उड़ीसा में आदिनाथ भगवान् की मूर्तियाँ भी मिली हैं, आदिम निवासी ऋषभदेव की मूर्त्ति की पूजा जंगलों में करते थे। टाइगरिया और बम्ब राज्य तथा बंकी और पिपली थाने में सराक जाति के सहस्रों घर हैं। यह सराक श्रावक शब्दका अपभ्रंश है। मध्य युग में वैष्णवोंका जोर अधिक होने के कारण जैन राजाओं के अजैन हो जाने से सहस्रों जैनियोंने धर्म परिवर्तन किया। जो अपने धर्मपर अडिग रहे वे सराक या श्रावक आज भी वर्तमान हैं।

हन्टर साहबने उडीसा में यवन सभ्यताका जिक्र करते हुए बतलाया है कि ये यवन जैन और बौद्धधर्म से अत्यधिक प्रभावित हुए तथा बहुत से लोग इन दोनों धर्मों में दीक्षित हो गये, जो आजतक चले आ रहे हैं। सन् १९०८ में जो सरकारी गजेटियर प्रकाशित हुआ है, उसमें उड़ीसा में जैनधर्म के सम्बन्ध में अधिक सामग्री संकलित की गयी है। प्राचीन जैनस्थान, मूर्त्तियाँ और जैन शिलालेखोंका भी संग्रह है। अशोक के पहले ही उड़ीसा कलिंग देश में शामिल था। मौर्य राज्यकाल में अनेक जैन मुनि खण्डगिरि और उदयगिरि की गुफाओं में निवास करते थे। यहाँ श्रावकों की बस्ती भी थी, जैन मन्दिर उस युग में यहाँ लगभग ४०० बताये जाते हैं। उड़ीसा में जैनधर्मका प्रचार ११-१२ शताब्दीतक खूब रहा है, खारवेल और उनके उत्तराधिकारी सभी जैन थे।

नेमिचन्द्र शास्त्री

साहित्य-समालोचना

श्री स्वर्णाचल महात्म्यम् (नग अनग कुमारों का पुण्य चरित)—

रचयिता कवि श्री देवदत्त, अनुवादक श्री बालचन्द्र जैन एम० ए०, प्रकाशक श्री माणिकचन्द्र नगवाल एम० ए०, मंत्री श्री दि० जैन सिद्धक्षेत्र सोनागिर, संरक्षिणी कमेटी, साइज डबलक्राउन सोलहपेजी, पृष्ठसंख्या ६+१८०, मूल्य दो रुपये आठआने।

इस महाकाव्य में सोनागिर से मुक्त होनेवाले नग और अनग कुमारों की पुण्य गाथा वर्णित है। कवर पर दिये गये सोनागिर के मन्दिर का चित्र ग्रन्थ स्वाध्याय के पूर्व ही पाठकों के मनको पूत कर देता है। हृदय में भक्तिभावनाका संचार हो जाता है और लालसा होती है क्षेत्र के दर्शन की। अन्दर भी कई चित्र दिये गये हैं ग्रन्थारम्भ में अनुवाद दिया गया है और उत्तरार्ध में मूल ग्रन्थ। अनुवाद भावानुवाद है, शब्दश नहीं, भाषा सरल और बोधगम्य है। भावानुवाद होने हुए भी मूलभावोंको अक्षुण्ण रखने का अनुवादक ने पूरा प्रयत्न किया है। बाहरी—छपाई-सफाई, कागज, गेटअप आदि, और भीतरी—वर्ण्य विषय, कवि के मूलभावों का अक्षुण्णता और भाषा की रूपच्छटा ये दोनों अंग प्रत्येक पाठक के मनको लुभाते हैं। प्रकाशन हृदयग्राही है।

हाँ, दो एक बातें अवश्य खटकनेवाली हैं, व ये हैं कि यदि इस पुस्तक के परिशिष्ट में सोनागिर के मन्दिरोंका संक्षिप्त परिचय रहता तो पुस्तक अधिक उपादेय हो जाती। अगले संस्करण में वहाँ के मूर्तिलेख और मन्दिरों का ऐतिहासिक ढंग से परिचय भी रहना चाहिये। फिर भी पुस्तक संग्रहणीय है।

आत्मावलोकन—रचयिता स्व० शाह श्री प० दीपचन्दजी कासलीवाल। सम्पादक श्री प० श्रेयान्सकुमारजी शास्त्री, न्यायतीर्थ, प्रकाशक दा० भू० सेठ मगनलालजी, पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला पो० मारोठ (मारवाड़), पृष्ठ संख्या ७+१९८, मूल्य मनन।

यह आध्यात्म विषयक रचना है। कविने ४० अधिकारों में देव, गुरु, धर्म, निश्चय, व्यवहार, तत्त्व, पदार्थ, भाव आदिका आध्यात्मिक दृष्टि से सुन्दर विवेचन किया है। श्री नेमिचन्द पाटनी ने ग्रन्थारम्भ में 'विषय प्रवेश' शीर्षक में पुस्तक के विषयको काफी स्पष्ट किया है। आगे ग्रन्थ के देखने पर मुद्रणकला की दृष्टि से पाठकों को निराश होना पड़ेगा, टाइप बेढंगा और स्थूलकाय है जिसने ग्रन्थ के सारे सौन्दर्यको विकृत कर दिया है। गाथाओं की अशुद्धि तो और भी खटकनेवाली है। भाषा पुरानी ढुंढारी है, जिसने आज के लोगों के लिये आध्यात्मिक विषय रसको खट्टा कर दिया है, यदि

आज की हिन्दी में इसका अनुवाद पृथक् दे दिया जाता तो निश्चय ही यह ग्रन्थ आध्यात्मिक दृष्टि से लुभानेवाला सिद्ध होता। आशा है अगले संस्करण में इस कमी की पूर्ति की जायगी। ग्रन्थ आध्यात्म प्रेमियों के लिये संग्रहणीय है।

स्तोत्रत्रयी सार्थ—अनुवादकः श्री पं० श्रेयान्सकुमारजी शास्त्री; प्रकाशकः दि० जैन पाटनी ग्रन्थमाला, मारोठ (मारवाड़); मूल्यः मनन।

इस पुस्तक में कल्याणमन्दिर, विपापहार और जिनचतुर्विंशतिका इन तीनों स्तोत्रों का भाषानुवाद किया गया है। अनुवादकने स्तोत्रों के प्रत्येक श्लोकको खुलासा करने का अच्छा प्रयत्न किया है। अर्थको जहाँतक हुआ है, स्पष्ट करनेका प्रयत्न श्लाघ्य है परन्तु कहीं-कहीं बोलचाल की भाषाको छोड़ क्लिष्ट भाषा का भी प्रयोग किया गया है जिससे विपापहार स्तोत्र के कई श्लोक खुले नहीं हैं। अगले संस्करण में इसे सरल और सरस बनाने की चेष्टा होनी चाहिये। स्वाध्यायप्रेमी, धर्मात्मा जिज्ञासुओंको इससे लाभ उठाना चाहिये। सस्कृत न जाननवालों के लिये यह रचना अधिक उपादेय है।

युगप्रधान श्री जिनदत्तसूरि—लेखकः श्री अगरचन्द नाहटा और भँवरलाल नाहटा; प्रकाशकः श्री शंकरदान शुभैराज नाहटा, ४ जगमोहन मल्लिक लेन, कलकत्ता; पृष्ठ संख्याः लगभग दो सौ; मूल्य बारह आने मात्र।

इस पुस्तक की प्रस्तावना श्री दशरथ शर्मा ने लिखी है। आपने बारहवीं शताब्दी मे श्री जिनदत्तसूरि द्वारा जैनधर्म के प्रसार के सम्बन्ध में किये गये कार्योंका उल्लेख किया है। मुनि श्री कान्तिसागरजी ने इसकी भूमिका मे बारहवी सदी की धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियोंका उल्लेख करते हुए सूरिजी के कार्यकलापों पर प्रकाश डाला है

चरित्र नायक सूरिजीका जन्म सं० ११३२ मे हुआ था, इनकी कुशाग्रबुद्धि और योग्यता से मुग्ध होकर सं० ११४१ मे ही इन्हें दीक्षा दे दी गयी तथा इनका नाम सोमचन्द्र मुनि रखा गया। पश्चात् चित्तौड़ में जिनवल्लभसूरि के पट्टपर सं० ११६९ में आसीन हुए, तभी से इनका नाम जिनदत्तसूरि प्रसिद्ध हुआ। इन्होंने विहार कर श्वेताम्बर समाज मे से अनेक कुरीतियोंको दूर किया तथा अपने उपदेशामृत से अजमेर के महाराज अर्णोराजको प्रभावित किया। आपके उपदेश से अनेक श्रावकों ने प्रतिबोध प्राप्त किया था। राजपूताने मे पाशुपत, कापालिक, शाक्त, भागवत, आदि सम्प्रदाय उस युग में उन्नति पर थे। सूरिजी ने अपने विद्वत्तापूर्ण उपदेश से हिंसाको दूर कर अहिंसा की प्रतिष्ठा की थी। इन्होंने अन्धश्रावकों की परवाह न कर जैनधर्म का मार्ग सभी जातियों के लिये खोला था; श्वेताम्बर मन्दिर में होनेवाले वेश्यानृत्य को भी बन्द किया था।

इनके द्वारा रचे गये अनेक ग्रन्थ हैं। इस चरित ग्रन्थ से सूरिजी की जीवन घटनाओं के अतिरिक्त बारहवीं सदी की राजपूताने की जैनधर्म सम्बन्धी व्यवस्थाका भी पता लग जाता है। इतिहास और चरित प्रेमियों के लिये ग्रन्थ संग्रहणीय है, छपाई-सफाई साधारण है।

श्री भावारिवारणपादपूर्त्यादिस्तोत्रसंग्रह—कर्त्ता श्री पद्मराजगणि, संशोधक मुनि विनयसागरजी, प्रकाशक हिन्दी जैन आगम प्रकाशक सुमति कार्यालय, जैन प्रेस कोटा।

प्रस्तुत पुस्तक में भावारिवारण, श्रीपार्श्वनाथलघुस्तोत्र, और जिनस्तुति ये तीन स्तोत्र संकलित हैं। इन तीनों के रचयिता पद्मराज गणि हैं। प्रस्तावना में श्री अगरचंद नाहटा ने पादपूर्त्ति साहित्य पर प्रकाश डालते हुए भावारिवारणस्तोत्र की पादपूर्त्ति और उसके कर्त्ता की गुरुपरम्परा पर सुन्दर प्रकाश डाला है। ग्रन्थकर्त्ता के सम्बन्ध में भी पूर्ण विचार विनिमय किया है। इस संग्रहका प्रथम स्तोत्र सरल, सरस और सुन्दर है। नमूने के लिये एक पद्य नीचे उद्धृत किया जाता है—

संसारि काम परिपूरण कामकुम्भ,
संचारि हैमनवपंकज पंक्तिरासु।
सेवामि ते चरमदेव ममन्तसेवि,
संधानलो दामिगणा चरण चरन्तम्॥

अतएव इस स्तोत्र की रम्य शब्दावली भक्ति की भावनाको जागृत करने में समर्थ है

चतुर्विंशति जिनेन्द्र स्तवनानि—कर्त्ता पुण्यशील गणि, प्रकाशक हिन्दी जैनागम प्रकाशक सुमति कार्यालय, जैन प्रेस कोटा (राजपूताना)॥

यह संगीतात्मक राग रागिनियों में रचा गया स्तोत्र है। इसमें राग के साथ देशिओं के नाम देकर राग से अनभिज्ञ जनताको भी गाने की सुगमता कर दी है। इसमें २५ स्तवन हैं। इस कृति की भूमिका सुप्रसिद्ध साहित्य सेवी श्री अगरचंद नाहटा ने विद्वत्तापूर्वक लिखी है। भूमिका में ग्रन्थकर्त्ता और ग्रन्थ के विषय पर पूरा प्रकाश डाला गया है। कहीं-कहीं पर प्रकाश श्लोक की सन्धिपता खटकती है। संगीत प्रेमियों को संस्कृत भाषा की राग रागिनियोंका रसास्वादन करने के लिये इसे मँगाना चाहिये।

श्री चतुर्विंशति जिन-स्तुति—रचयिता महाकवि श्री सुन्दर गणि, सम्पादक मुनि विनयसागर, प्रकाशक हिन्दी जैनागमप्रकाशक सुमति कार्यालय जैनप्रेस कोटा (राजपूताना), मूल्य चार आने।

वार्षिक विषय सूची—भाग १५

(किरण १)

(किरण २)

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. XIV JANUARY, 1949 No II

Edited by

Prof A N Upadhya M A., D Litt
Prof G Khushal Jain, M A Sahityacharya
B Kamata Prasad Jain M R A S D L
Pt Nemi Chandra Jain Shastri, Jyotishacharya

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
ARRAH BIHAR INDIA

Annual Subscription
Inland Rs 3 Foreign 4s 8d Single Copy Rs 1/8

CONTENTS.

Om

JAINA ANTIQUARY

" श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥ "
[अकलंकदेव]

Vol XV No II | ARRAH (INDIA) | January 1949

THE BIRTH PLACE OF DHAVALA & JAYADHAVALA

By
(Jyoti Prasad Jain M A LL B)

From the colophon given at the end of the Dhavala commentary of the Shat khandagama Sidhanta it is evident that Swami Virsen completed this work in the morning of the 13th day of the bright half of the month of Kartika in the year 838 of the Vikrama era corresponding to Monday the 8th of October 780 A D [1] But the author himself gives no clue as to the place where he lived and wrote his works It was, however, Jinsena the worthy desciple of Virsena who in the Colophon of the Jayadhavala, a commentary on the Kasaya Pahuda, which was left incomplete by Virsena, but was completed by Jinsena in 837 A D and which he, out of respect for his guru, called the Virseniya Tika specifically mentioned the name of that place as Vāṭa grama pure Besides Indranandi in his

1 Anekant—VII, 11 12 p 207 JA—XII I p I In these articles the date arrived at by Prof Hiralal (in Shat Khandagama I 1 1 Introd) and accepted since by most of the scholars has been proved to be incorrect.

2 Jayadhavala (Dig Jain Sangha Benares) Vol I Introd

Shrutavatara[3] mentions that Virsena Guru came from Chitrakutapur and settled at Vātgrama where, in the ancient Jaina temple supposed to have been built by Anatendra (a king of the gods), he wrote his Dhavala and about a third of the Jayadhavala which was later on completed by his desciple Jayasena i. e (Jinsena). The Shrutavatara of Bibudha Sridhara, although corroborates this statement in other details, fails to mention the name of the place. An old manuscript of Pratikramana dated 1560 A. D[4], belonging to the Shastra-Bhandara of Karanja, has two verses in it, which refer to Virsena and mention that he wrote his works in the temple of Vāta (वाटे चैत्यवरे). The same two verses are, however, repeated verbatim even along with the corresponding numbers (i. e 13 & 14) in a Pattavali of Senagana published by Dr. A N. Upadhye.[5] It seems that the Pratikramana mss either contains this Pattavali in full or has borrowed certain verses from it. Thus these are the only sources so far discovered, which mention the name of the birth-place of Dhavala and Jayadhavala and give it as Vāṭa, Vāṭagrāma or Vātagrāmapur. It also appears that Virsena took his abode in an ancient Jain temple of this place. which was believsd to have been built by the gods in times immemorial, and consecrated probably in the name of Lord Chandraprabhu, the eighth Jaina Tirthankara whom Virsena salutes and eulogizes in the beginning of the Jayadhavala, paying special tribute to the धवल वर्ण (silvery white colour) of His body[6] The only other information about the place is that supplied by Jinsena in the colophon of that work, which says this Vātagrāmapur was, in his times, under the rule of the lord of Gurjara or Gujerat (वाटग्रामपुरे श्रीमद् गुर्जरार्यानुपालिते). And there is no doubt about the fact that these two scholars lived somewhere within the dominions of the Rashtrakutas, and at least Jinsena who was the religious preceptor of Emperor Amoghvarsha I was in direct contact with the emperor and his court.

Of the modern scholars, Dr K. B. Pathak was the first to make an attempt at identifying this place. He edited the famous Parswa-

3. श्लोक १७७-१८०
4. Mahabandha (Bh. Gyana Pitha, Kasi, 1947)—Introd p. 13.
5 JA—Vol. XIII no 2 p. 4.
6. Jayadhavala, ibid.

bhyudaya Kavya of Jinsena in 1909 A D In his introduction to that work, he discussed the colophon of the Jayadhavala, and being unable to make anything out of Vata gramapur, he concluded that the name was wrongly spelt in the mss and that it should have been Matagrāmapure instead of Vātagrāmapure And he seems to have believed that this Matagrāma was the same as Malkhed (or Manyakheta) the wellknown capital of the Rastrakutas In his paper on 'Kumarila and Bharthari also he wrote the name of the place as Maṭagrāmapur [7] Pt Nathu Ram Premi followed Dr Pathak and gave the name as Matgrāmapur, and even in quoting Indra nandi he corrected the original Vātagrāma into Mātgrama He also belives it to be identical with Malkhed [8] Probably on the same authority Dr Belvelkar gave the name as Mathagrama [9] Dr Hiralal the worthy editor of the Dhavala (i e the Shat khandagama) discusses in its introduction all available information about Virsen, and although he reads the name of the place of his re idence as Vata grāma, he neither identifies it nor locates it But the learned editors of the Jayadhavala have tried hard to fix its identity They uphold the correct version to be Vāṭagrama or Vātgrāmapur but misled by the adjective गुर्जरार्यानुपालिते they believe that it must be situated somewhere in Gujerat On referring the matter to Dr Altekar the learned author of 'the Rashtrakutas and Their Times they seem to have been told by him that the ancient name of Baroda (in Gujerat) was Vaṭapada (वटपद्) and that some Rashtrakuta copperplate grants have been discov red from near about that place, and so this Vata pada might have been the Vāṭágrāma of Virsen and Jinsena They further assert that the Gurjararya or Gurjaranarendra of the Jaya dhavala colophon was none else than Amoghvarsa I himself and that since he had quelled the rebellion of Dhruva of Gujerat in Saka 757 (i e 835 A D) and conquered back that province he was called as such by Jinsena in 837 A D and that there is thus no doubt about Baroda being the place where Virsen and Jinsen

7 JBBRAS—XVIII p 226 He also identified the Gurjararya with Amoghvarsa

8 जै० सा० इ०—पृ० ५६७ तथा विद्वदरत्न माला पृ० २६ ३१

9 Jin ratina kosa p 133

lived and compiled their works. In this way we have got so far only two suggestions regarding the identity of the place in question, the first saying it was Manyakhet and the other that it was Baroda, but none of them is either suitable or even possible

Nowhere has this place been referred to as Māṭgrāmapur, Māṭgrāma or Mathagāma, while in all the available mss. of the known sources it is given as Vātagrāmapur, Vāṭagrāma or simply Vāta. There is no reason why the spelling of the original name should be so drastically changed, when even the changed name bears no resemblence with Manyakhet or Malkhed. Moreover, Manyakheta was not the capital of the Rashtrakutas at the time when the Dhavala was finished (i. e. in 780 A. D.) Most probably it was not even in existence at that time. The city was founded and made the capital by Amoghvarsha I,[10] probably even after the completion of the Jayadhavala in 837 A. D. When Amoghvarsa ascended the throne, he was only a child of about six years, and for more than two decades his reign was infested with rebellions and disorders By about 835 A. D. the situation was finally brought in control and peace and security were restored, due mainly to the untiring efforts and unflinching loyalty of his kinsmen Karka, Govind and Dhruva, the viceroys of Gujerat And it seems to be on the advice of the Mahasamantadhip of Gujerat that he built the new city which had a more secure and central position, and shifted to it the capital sometime between 835-840 A D. The earliest reference to Manyakhet seems to be that in the Konur plates issued by Amoghvarsa from Melkhed itself in 860 A. D Thus Manyakhet could never have been the place where Swami Virsen lived. Jinsen might have lived there in his later days, although it is also not quite likely. And so there is absolutely no possibility of Vāṭgrāma and Manyahhet being identical.

Similarly, it could not have been Baroda of Gujerat. Even if Vaṭpad (वटपद्) was the name used for Baroda in those days, it hardly bears sufficient resemblence with Vātgrāmapur (वाटग्रामपुर) to be identical with the same. A place could not be known by two

10. Karad plates of Karka II (IA—XII p. 263 ff), Rashtrakutas and their times p. 47.

such different names in the same period Moreover Gujerat, and therefore Baroda was not included in the Rashtrakuta empire in the times of Virsen (760 790 A D) It was Govind III who sometimes between 794 808 A D conquered and annexed Gujerat to the Rashtrakuta empire, and appointed his favourite brother Indra as its viceroy and on Indra s death his son Karka was appointed to his place The earliest Rashtrakuta records discovered from Gujerat are the copper plate grants of Karka dated 811-12 A D Govinda had great faith in Karka so much so that at the time of his death be appointed the latter as the guardian of his own son Amoghvarsa I who was then a mere child Karka discharged the trust faithfully, quelled all the rebellious elements and installed Amoghvarsha on the throne of his father in 814 15 A D Even after that he could not afford to be absent from the capital and to facilitate his presence there he appointed his own brother Govind as deputy viceroy of Gujerat After Karka s death, his son Dhruva succeeded him as Mahasamantadhip and governor of Gujerat These Rashtrakutas of the Gujerat line remained ever faithful to the emperor Atleast there was no disaffection till the time of Dhruva s grants of 835 A D[11] The assertion of the editors of the Jayadhavala that in 835 A D Amoghvarsha suppressed the rebellion in Gujerat and conquered back that province thereon adopting the title of Gurjararya and Gurjara narendra is therefore erroneous and quite baseless In fact there was no such rebellion, and he had ever been the over lord and emperor of Gujerat since the beginning of his reign, while the immediate rulers of that province, the actual Gurjaryas were Indra, Karka and Dhruva This subordinate branch ruled Gujerat from C 794 to 900 A D, after which it was ruled directly from Malkhed[11(a)] And so the Gurjararya of the colophon must have been Dhruva I of Gujerat, in whose territory was also included the Vaṭagrāma of Virsen and Jinsen, in 837 A. D This, however, does not mean that this place might as well have been in Gujerat We have already seen that in Virsen s time Gujerat was not a part of the Rashtrakuta empire, and the place where he lived was in 780 A D under the immediate rule of Jagtunga, who was the governor of the

11 IA—XV p 199

11(a) Dr Iswari Pd.—Hist of India p 141

province in which it was situated. Besides, although Virsen himself seems to have migrated from the north i e. Chitrakutapur which I have reason to believe was none else but Chitor, all his later associations, colleagues and desciples belonged to South India. Digamber Jainism was never very popular in Gujerat which has ever been the stronghold of the Swetamber sect No old Digamber monastery, college or library is known to have existed there. The oldest mss. of Dhavala and Jayadhavala also, which date 11th, 12th century A. D, have been discovered only from Karnataka. And no historical evidence or tradition associates Virsen and Jinsen with Baroda or any other part of Gujerat. There is thus no reason to imagine that Baroda might have been the Vātgrāmapur in question, purely on a remote semblence of the two names.

In order to discover the real place we should look for it somewhere in Maharastra proper, and more particularly in the vicinity of the pre-Malkhed capital of the Rashtrakutas. Unfortunately the pre-Malkhed capital has also not been determined so far with certainty. There are several suggestions Some say the fort of Mayurkhandi or Morakhanda in the Nasik district was the pre-Malkhed capital while some others think Nasik itself was the capital Some believe it to be Latur in Berar, which was the original home of the family Paithan, Elichpur and Elora have also been put forth as probabilities. Cousens suggested[12] that the place called as Sooloobunjun in the Indian Atlas sheets, which is just above the Plateu near the Elora caves may have been the actual lacality of the capital. Dr. Altekar discusses[13] at length all these possibilities and comes to the conclusion "As it is, we have to admit that we have no definite knowledge as to the precise site of the capital before it was shifted to Malkhed. Yet from the above discussion and available material, this can be safely concluded that the pre-Malkhed capital of the Rastrakutas was somewhere not far off from Nasik and most probably it was Sooloo bunjun which is close to the Elora caves which were excavated and adorned with fine temples by Krisna I (756-772 A. D.), and that Nasik itself was the seat of a viceroy who generally used to be the

12. The Chalukyan Architecture, p. 1.
13. Rastrakutas and their times p. 46-48.

prince next in importance to the emperor himself and that the fort of Mayurkhandi in the vicinity of Nasik was the chief military head quarters of imperial Rashtrakutas in the pre-Malkhed days, and was in charge of the viceroy of Nasikdesa Thus the Pimperi[14] and Dhulia[15] plates of Dhruva Dharavarsa dated 775 and 779 A D respectively show that in the reign of Govind II his brother and successor Dhruva was the viceroy of Nasik as he himself probably was in the reign of his father Krisna I Similarly in the time of Dhruva, it was his son and successor designate Jagtunga who held the viceroyalty of Nasik and was incharge of the military head quarters of Mayurkhandi In his own reign Govind III seems to have retained them in his own charge and not to have appointed a separate viceroy He seems to have spent much of his time in the fort of Morakhanda as several of his own grants, viz Radhanpur (808 A D) Wani Dindori (107-8) Kadba (814 A D), were issued from this place His own son and successor was a small child, and the most trusted of his brothers was Indra May be, in the beginning of his reign he had entrusted the charge of these places to Indra, but after his conquest of Gujerat to the viceroyalty of which he appointed Indra he might have taken Nasik and Morakhand in his own direct control But whan he died in 813 A D, Karka the son of Indra who besides being viceroy of Gujerat was also the guardian of the boyking Amoghvarsa and was thus the first lord in importance, must have himself taken charge of the viceroyalty of Nasik and control of the fort of Mayurkhandi Thereafter, for a long time atleast upto Dhruva s time and certainly in 837 A D the Nasikdesa was a part of the viceroyalty of the lord of Gujerat. Thus, supposing Vātgrāma was situated somewhere in the province of Nasik, the words गुर्जरायार्यपालिते would simply mean 'under the direct government of the lord or governor of Gujerat As a matter of fact a comparison of the two colophons those, of the Dhaval and the Jayadhaval clearly shows that in both of them the immediate ruler of the province as well as the emperor overlord are mentioned Thus the Jagtungdeva rajje of V 7 of the Dhavala colophon refers

14 E. I—X p 81 ff

15. EI—VIII p 182 ff

to the immediate ruler of that province while the Vallaba-Ray-Narendra Narendra-Chandamani of V. 9 refers to Dhruva Raj the Rashtrakuta emperor himself, similarly the Gurjararya of V. 6 of the Jayadhavala colophon refers to the viceroy of Gujerat who was also the Governor of Nasikdesa (i-e. Dhruva I of Gujrat). and Amoghvarsha-Rajendra etc of V. 8 evidently refer to the emperor himself. In both the colophons, the intervening verses contain information about the date and time of the completion of there works. The mode of mentioning the names of these two sets of dignitaries also clearly indicates that the former ones were of an inferior or subordinate position to the latter ones. The editors of the Dhavala as also those of the Jayadhavala committed the same mistake of believing two different persons, i e the immediate governor and the emperor overlord, mentioned in the colophons, to be one and the same person.

But these discussions do not help us much unless we succeed in locating our Vāṭgrampur in the region of Nasik, beyond any doubt. Fortunately, we have at least four copper plate grants of the Rashtrakutas, ranging from 775 A D. to 808 A D., which throw important light on the identity of the place sought after The Pimperi Plates[16] of Dharavarsa Dhruvaraj Nerupama, dated 775 A. D. purport to have conveyed the grant of a village named Lilagrāma in the Vātnagarika Vishaya 84 of the Nasikdesa. Dhruva was at this time the viceroy of Nasik and Khandesh, with Nasik as his headquarter. The Dhulia plates[17] of Karkaraja dated 779 A. D record the grant of a village named Rakhulagrama in the Nasik Vishaya (province), in the east of which was Chebhatika, in the south Godavari, in the west Vatmukhagrama and in the north Vatapuragrama. According to Dr D. R Bhandarkar, the editor, of these plates, all these localities are situated in the Nasik district. The Wani-Dindori plates[18] of Govind III, dated 806-7 A D were discovered from the village of Wani in the Dindori Taluka of Nasik

16 E I—Vol X p 81-87, line 41 in the second of the three Pimperi plates (on p. 87) contains—'वाटनगरिकारव्य चतुरशीत्यन्तर्गत लीलाग्राम्मे'

17 EI—VIII p 182.

18. IA—XI p 156, line 39 of the plate has 'नासिक्देशीय वाटनगर विपय अन्तर्गता धम्बकाग्राम'

district, and were issued from Mayurkhandi, a hill fort to the north of Wani It records the grant of the village of Ambakagrama in the Vaṭanagar Vishaya of Nasik desa, on the east of which was the village of Vadavura The Radhanpur (808 A D) and Kadaba (813 A D) plates of Jagtunga Govind III were also issued from Mayurkhandi The latter record[19] states that the emperor made this grant infavour of a Jain Matha because its head had removed the evil influence of Saturn from which a feudatory Chalukya prince was suffering The donee was a Jain Guru Arkakirti the desciple of Vijayakirti

From the above records, it is evident that Nasik and the adjoining fortress of Marakhanda enjoyed in those days the importance next only to the capital which, if it was Saloobanjun, was only within fifty miles of these places and Dhruva and Govind III seem to have spent much of their time there , At the same time, there was evidently an important town, Vātanagar or Vātnagarika in the Nasikdesa, which was also a divisional headquarter It was a Vishaya which was a smaller unit than a Desa or province and was a bigger unit than the Bhukti (a Tehsil), and was thus like the modern Division or atleast a district. In 775 A D it included 84 villages, but with expansion of the dominions this number must have increased much in the times of Govind III and Amoghvarsa I Dr Bhandarkar and Dr Altekar have identified most of the places mentioned in the Rashtrakuta plates, but they failed to identify Vātanagar Dr Fleet the editor of the Wani Dindori plates, thought it might be the modern village of Wani But he was doubtful It was, however Mr G K Chandorkar, the gentleman who had in his possession the Pimperi plates before he gave them to Dr K B Pathak for editing and publishing them in the Epigraphica Indica who definitely identified Vātanagar of the plates with village Vani of Dindori Taluka (Tehsil) in the district of Nasik [20]

Dindori is situated some 15 miles north of Nasik town About five miles north of Nasik, and in between Nasik and Dindori are

19 EI—IV p 340 RTT—p 351 Leu—p 38

20 EI—Vol X p 85 Mr Chandorkar also identified the Vidagrama of the plate with the modern village of Nilagavan

the Satmala or Chandor range of hills. On its peaks are the famous Jaina cave temples of Chāmbhār Leṇa. These Chāmbhār group of Jaina cave temples are among the ancient and important cave temples of India. They are cut in a hill 600 ft. above the plain, and are themselves 450 ft. from the base of the hill.[21] The village Vani is situated beyond these hills, near Dindori, and in those days when it was an important town, might have been stretching close to these hills. The famous Jain Tirtha Maungya Tunga hills with a number of ancient Jain caves containing Jina figures in small nitches and assigned to the 8th or 9th cent. A. D[21(a)] as also the sacred Gajapantha hill another place of ancient Jaina pilgrimage, are situated in the Nasik district, rather close to the town. The neighbourhood of Nasik is also sacred to the memory of Chandraprabhu Swami. It has been a Jain Tirtha associated with the Tirthankar Chandraprabhu from times immemorial. The ancient temple of that Lord here, being believed to have been built by gods.[22] This corroborates the Shrutavatara tradition and confirms the likelihood of its being the desired abode of Virsen and Jinsen. In fact, Nasik and its neighbourhood has been a sacred place of all the three sects, the Jains, the Hindus and the Buddhists, atleast from the times of the Satwahanas and the western Kshatrapas i e. from 100 B. C.) And in the Rashtrakuta age too, the whole neighbourhood was a centre of learning of the three faiths. The Buddhist Monastry of Kanheri was near Bombay within 50 miles of Vatnagar, the Shaiva establishment at the Kailash temple of Elora was also near at hand, while the Jain University of Navasari (Neosarika) was about 40 miles north west of this place, and the other Jain monastries of Dharmpuri, Vatapi and those of Karnatak were within easy reach The borders of North India were also not far from it. The place in itself was neither a small insignificant

21. Imp. Geog of India, Bom Pres, Vol I p. 455, 480, also Bombay Gazet—Vol XVI p 541, 639. 426-28

21(a) ASI—1921-22 Pt. II p. 66-69, JB—140 (XXVI), MAR—1920 p 10

22. Vividha Tirthakalpa, ed. B C Law—JG 1938 p 275, The Tirthakalpa of Jinaprabha, also quoted in Abhidhan Rajendra—45th Kalpa, The Jain Iconography by B C Bhattacharya—Vol II p. 30—Nasik along with Chandravati and Varangi are the three Tirthas sacred to the memory of Chandraprabhu.

village, nor a very big city or a busy Capital town Thus it was free from all the hustle bustle of a big city, and as the seat of the district government was such a moderately good town which could provide all the necessary facilities for the centre of Jain learning set up by Swami Virsen, and also for the scholars working there to pursue their literary activities peacefully and conveniently It is quite possible that a sort of establishment with an adequate library and other necessary equipment already existed there and so when Virsen left Chitrakutapur, he chose this place for his life long work. Living at this place he composed at least one lac of Sloka size volumes (i e. 72000 Slokas of Dhavala and about 20000 Slokes of Jayadhavala), and thus his total writing is wellingh equal the size of the Maha bharata which although is not a single man s work and took centuries to acquire that size It is therefore clear that the Vāṭa grāmapur of Virsen and Jinsen was the Vāṭnagar Vishaya of Nasik desa, which was the same as the Modern village of Vani or Wani No doubt there were a few other places in that region, whose names also bear some resemblence to Vāṭagrāmapur, namely the Vaṭmukhgrāma and the Vaṭpurgrāma of the Dhulia plates and the Vadvurgrāma of the Wani Dindori plate But they do not seem to be the likely places, because in the first place they were only small villages and secondly they resemble much less with Vāṭagrāmapur than the Vāṭnagrika does, which is quite apparent from their spel lings and pronunciation The original and main part of name is Vāt (वाट) which is common only to Vāṭagrāmapur and Vāṭanagarika The suffixes Grāma, Pur Nagarika are only descriptive terms and may be indiscriminately used with any place names, atleast it was so in those days In some contemporary records the words Talvan pur and Talvananagar have been used for the place Talked in two different places in one and the same record as well as in different records[23]

Therefore, there remains no doubt that the birth place of Dhavala and Jayadhavala and the abode of Swami Virsen and Jinsen was Vāṭagrāmapur or Vāṭnagar Vishaya of Nasikdesa, and within a few miles of Nasik town which was the same as the modern village of Vani in Dindori Taluka of Nasika district. And most probably,

the exact spot in that Vāṭnagar where this Jain Centre of leaving was accomodated was the ancient god-built temple of Chandraprabha Swami in the famous Jain cave temples of 'Chāmbhār Leṇa in the vicinity of that town.

---

23 MAR for 1921 p. 31—Champanagar grant Kambhaaj. Also see MAR. 1933 p. 237-38—Iswar temple stone inscription of Sripurush, E C—Ig—I p. 51—The Mercarra plates.

THE ORIGINAL HOME OF JAINISM

By

Prof S Srikantha Sastri M A
302 D Subbaya Road Mysore

It has become customary to take granted the statements of certain historians that Jainism like Buddhism represents a reaction to the sacrificial cult of Vedic Āryans and in the case of Jainism many scholars are reluctant to take back the history of the faith before Parśva in about the 9th century B C. Magadha which happened to be outside the pale of the Vedic sacrificial cults in the earliest times happened to be the birthplace of both Jainism and Buddhism and hence many have thought that these religions were perhaps of non Āryan origin Another theory is that there was at first a wave of non Vedic but Aryan peoples who had spread all over Hindustan and that later on a new branch of the same Aryans but with Vedic cults came and established themselves, driving out the earlier non Vedic Āryans into Magadha, where Jainism and Buddhism arose. The Indus Civilisation of C 3000–2500 B C with its cults of nudity and Yoga, the worship of the bull and other symbols has resemblances to Jainism and therefore the Indus civilisation is supposed to be of non Aryan or non Vedic Āryan origin The protagonists of the Non Aryan theory are many and some of them call the civilisation definitely Dravidian I have shown in my Proto Indic Religion that the so-called non Aryan characteristics are really those of Atharva Veda civilisation and that the Vedas themselves provide ample proofs of the worship of the mother goddess, the bull serpent, Yoga etc. Therefore the Indus civilisation is post Vedic and an admixture of many Tāntrik practices It is impossible to assign a Dravidian origin to the Jaina and Buddhist religions as the Tirthankaras and Buddhas are clearly designated as Kṣatriyas and Āryas

Jainism like Buddhism must therefore be traced to an earlier phase of Aryan culture I have shown that all Indian evidence is in favour of the original home of the Aryans being Bhārata Varṣa in

Jambūdvîpa. Bharata-Varṣa according to our traditions was not confined to the modern geographical limits but extended up to the Hindu-Kush and Pamir Range, 40° degrees latitude. It is this fact that has been embodied in the earliest Vedic and Jaina astronomical works and myths. It is well-known that the Vedānga Jyōtiṣa (C. 1380 B. C) Calendar is practically the same as in the Jaina astronomical works like Sūrya Prajñapti, Kālaloka-Prakāśa, Candra Prajñapti, etc. The Jaina theory of two suns, two moons and two sets of 27 nakṣatras can be properly understood in the light of Vedic literature. The Sūrya Prajñapti (19th Pāhuda p 271) refers to various opinions[1].

In the Vedic literature also we find numerous references to the number of the Ādityas as 1, 3, 7, 7½, 12, 14 upto 1000, these should be understood in terms of time measurements, like the cycles of the years or eclipses or *ayanas* according to the context and not literally. It is not our present purpose to deal exhaustively with the explanations of these astronomical statements. We are concerned only with definite statements indicating probably the original place of astronomical observations in both Vedic and Jaina texts The five years cycle or Yuga is found in the Vedic calendar and also in the Kālalokaprakāśa as pointed out by late Dr. R Shama Śāstri (*Drapsa. p. 115*). The Jaina work describes gnoman and its shadow measure during the two *ayanas* The shadow of 24 aṅguḷas is that of a Śaṅku of 24 aṅguḷas in height on the first day of Dakṣināyana and it increases at the rate of 4 aṅguḷas per solar month until it is exactly doubled on the Uttarāyaṇa day after which it goes on decreasing at the same rate. The Kālaloka-Prakāśa says that in the cycle of 5 years the increase (from the first day of Daksināyana) will be as follows :

---

[1] ता कति नं चन्दिमसूरिया सव्वलोयं ओभासन्ति उज्जवन्ति तवेति पभासेंति यहि तेत्ति वदेज्जा? तत्थ खलु इमा ओ दुवालस पडिवित्ति ओ पण्णत्ताओ। त त्थेगेऽवमाहंसु। ताऽके चन्दे ऽगे सूरे सव्वलोयं ओभासति उज्जोऽत्ति तवेत्ति पभासेत्ति। एगे एवं आहंसु। एगे पुण एवमाहंसु तातिण्ण चन्दा तिण्ण सूरा सव्वलोयं ओभासति। एगे एवमाहंसु–ता आ उट्ठं चन्दा त आ उट्टं सूरा सव्वलोयं ओभासंति उज्जोवेति तवेतिं पगासति। एगे एवमाहंसु–ऽतेण अभिलावेण नेतव्वम्। सत्त चन्दा सत्त सूरा, दस चन्दा दससूरा, भारस चन्दा भारस सूरा ....

Surya Prajñapti. 19th Prābhṛta.

I st year	Srāvaṇa Bahuḷa 1—2 pādas (24 anguḷas)
	Increase by 4 anguḷas per month
	Māgha Bahuḷa 7—4 pādas (48 anguḷas)
II nd year,	Śrāvana Bahuḷa 13—24 anguḷas
	Māgha Śuddha 4—48 „
III rd year	Srāvana Suddha 10—24 anguḷas
	Māha Bahula 1—48 „
IV th year	Srāvana Suddha 7—24 anguḷas
	Māgha Bahula 13—48 ,
V th year	Srāvana Suddha 4—24 anguḷas
	Māgha Suddha 10—48 „

In the Vedic literature the years of the cycle are called Samvatsara, Parivatsara, Anuvatsara Idvatsara and Iḍāvatsara or Samvatsara Parivatsara, Iḍāvatsara, Idvatsara and Vatsara Further as I have shown, the Vṛṣākapi hymn which has been a puzzle to scholars, clearly refers to the four parts of a day the dawn, noon the twilight and night, the durations of these being indicated by symbols of Indrāni Indra, Vṛsākapi and Vṛsākapāyi, (*Rg X 7 2, Atharva XX 126*) The long period of evening and twilight indicated here is possible only in the 40th degree latitude this is supported by the statement in the Nidāna Sūtra (*IX 6*) that in the Agniṣṭoma sacrifice that the twelve stotras leave three *muhūrtas* unmeasured Therefore the shortest day was only of 12 muhūrtas duration (only of 9 hours and 36 minutes) Correspondingly the Sūrya Prajñapti mentions that the longest day was of 18 muhūrta duration i.e 14 hours and 24 minutes

Again there is close analogy between the terms Kalyōja Dvāpara Yugma, Tretā and Kṛtayugma used in Sūrya Prajñapti (p 167) and the Vedic terms Kali, Dvāpara Treta and Kṛta Yuga and Parva were synonymous and meant a fortnight in this early calendar of the Āryans The Bhagavati Sūtra which according to Jacobi must be assigned to the end of the fourth or the beginning of the third century B C mentions Kṛta yugma The Vedic year began in Māgha (most probably from the Ekāṣṭaka day Māgha Bahuḷa 8 according to the Sūtras) in the beginning of Varṣa Ṛtu as indicated in the Maṇḍūka Hymn (*Rg* VII, 103,7) and the hymn to Ekāṣṭaka

(*A. V.* III. 10). Now in Central Asia and Bokhara region the rains commence at about the autumn equinox, whereas the rainy season in India begins with Dakşināyana. Jacobi assumed therefore that the year began with the Dakşināyana in Makha or in the Phalgunis and Uttarāyaṇa occurred in the Bhādrapadas. Allowing for the unequal spacings of the Nakşatras in the early Jaina and Vedic works, this roughly indicates a date between 2280 BC and 3240 or 4200 B. C. In the later Vedānga Jyōtişa and Jaina works mentioning Dakşiṇāyana as in the middle of Āśleşa and Uttarāyana in Dhaniṣṭha (1320 B. C) we confind indications of even for earlier dates According to the old Garga and Jaina systems Śravaṇa and Maghas were on the same colure of the equinoxes indicating a date of C. 8040 B C, when solistitial colure passed through Viśākha and Krttikas

The Sarasvatī legends in the Vedas have, as I have pointed-out elsewhere, a core of astronomical observations when the river Sarasvatī still flowed into the sea and was considered more sacred than even the Gangā and Yamunā The Vedic sacrifices on the banks of the Sarasvatī commenced perhups when the Vernal equinox was in Mūlā, which naksatra is even now sacred to the goddess Sarasvatī though it occurs during the Dasara Sarasvatī in the Taittirīya Samhitā is identified with Amāvasyā and her consort Sarasvān with Paurnima Hence Amāvāsya in Mūlā Nakşatra marked the Vernal equinox and the commencement of the sacrificial year, the Naksatras also being counted from Mūlā (the first or root) and subsequently from Jyeṣṭhā (the eldest) and so on until in the late Vedic period the Nakşatra lists began with the Kṛttikas. Subsequently the Sarasvatī river disappeared as also the Rājaputāna sea and its waters were mostly drawn into the Yamunā and Gangā. The date indicated by Vernal equinox in Mūla is C. 16680 B C This geological and astronomical evidence therefore shows that the Aryans had already been long in the possession of the Sarasvatī country, After the last Ice Age (Würm) which according to the latest estimates based on the lead analysis extended from 80000 to 50000 years ago there came about a Pluvial Period upto 25000 years ago. This holds good only of Europe and in India the warmer climate must have commenced earlier. Even in Europe by this time Man had passed through the Eolithic, Lower, Middle and Upper

Palaeolithic periods and by 50000 B C. the Mousterian Gravettian and Magdaleman cultures of Europe had been passed The earliest man (Homo Pekemunsis) is now assigned to the first Inter Glacial period (C 500000 years ago) Hence man s evolution must have been more rapid in the tropical regions The antiquity of Āryan traditions Vedic Jaina and Buddhistic, thus goes back to atleast 20,000 B C and the original home of the race must have been in Bharatavārsa which extended up to the 4th degree latitude It is urgently necessary that the students of Jainism should make a comparative study of the Susuma and Dusṣuma Kalpas and of the various legends narrated in the lives of the Tīrthamkaras

जीयात् त्रलोक्यनाथस्य शासन जिन शासनम् ॥

A CRITICAL STUDY OF THE JAINA EPISTEMOLOGY.

By
Prof Rajendra Prasad, M A

The Jaina theory of knowledge possesses certain well-marked features in virtue of which it deserves a distinctive position in the history of philosophy, both eastern and western. It is because of such characteristics that it deserves our special attention and requires a revaluation in the light of the past and present philosophical attainments. But before giving a detailed analysis of the Jaina epistemology it is incumbent upon us to know certain preliminary things about the nature and the foundation of knowledge.

Knowledge or consciousness is, according to Jaina thinkers, the essence of the soul. The soul is constitutionally a conscious, knowing being The nature of this consciousness is such that it reveals itself as well as its object To know an object is also to know the knowing of the object Thus knowledge is of the nature of light which manifests itself as well as the object placed before it. In this way Jaina thinkers hold that to have the consciousness of an act of knowledge we donot require another act of knowledge. A single act of consciousness is sufficient for the awareness of itself as well as for that of the object towards which it is directed.

This view of the Jainas is opposed by so many other Indian thinkers like the Naiyāyikas, the Bhāttas etc. The latter hold that a cognition cannot reveal itself just as the finger-tip cannot touch itself According to the Naiyāyikas a cognition is manifested by another cognition since in this case the former cognition is the object of the latter cognition. The Jaina thinkers urge against the view of the Nyāya a number of objections of which we shall mention a few important ones.

The Jainas point out that we must accept the self-revealing nature of knowledge for if we adhere to the Nyāya view we shall be landed in an infinite regress. Every cognition will require another one to make it manifest but this manifesting cognition will also require stil

another to manifest it, and in this way we shall have to go on ad infinitum

To avoid the infinite regress it may be urged here that the manifesting cognition does not require to be perceived by another cognition Now if this be the case then there can be two possibilities either we know the manifesting cognition or we donot know it The first possibility is not admissible because its self cognisability has been rejected and its cognisability by another cognition has also exhypothesi been excluded It is clear that there is no third course left Now we are left only with the second possibility, namely, the *unknownness* of the illuminating cognition and thus the Nyāya position is like this we know a cognition not by itself but by another cognition which in itself is unknown But it is absurd to say that on unmanifested cognition can manifest another cognition

Further, if we stick to the Nyāya view we shall not be able to find out sufficient reasons for the arousal of the second cognition for the earlier one If we call the manifesting cognition B and the cognition to be manifested A, then B cannot arise when A continues to exist because two cognitions cannot arise simultaneously, B cannot also arise when A has vanished for then there will be no object to be cognised by B And if we admit that B can arise even in the absence of any object then B will be toutamount to an illusory cognition like the snake rope illusion in which there is no objective snake

As a result of all these criticisms, the Jainas reject the Nyāya view and hold the view that knowledge is known by itself The Prābhākaras, the Vedāntins and some Buddhists also hold the same view as the Jainas with regard to the knowledge A close parallel on this point is also found in the Itallian thinker, Bonatelli According to Bonatelli, as Dr Radhakrisnan puts it, "in the knowledge of any fact there are given together the knowledge of the fact and the fact of knowledge"

A very important implication about the nature of the relation between *knowing*[1] and the *known* follows from what has been said about the nature of knowledge Knowledge, for the Jainas, is revelatory, it reveals itself and its object To know an object is to reveal

that object just as the table-lamp reveals all the objects placed on the table without any prejudice. Therefore the object of knowledge is not modified by the knowing of it, it is only revealed and not altered Hence the object of knowledge is independent of the knowledge-relation and there is no duelism between the object known and the object as it is. Here the Jaina position is in agreement with the epistemological monism of the contemporary neo-realistic thinkers of Great Britain and America.

After the nature and knowledge of knowledge another very important question concerns the validity of knowledge. The question of validity split up into three sub-questions: (a) What is the criterion of validity ? (b) How does validity originate? and (c) How is it known ?

In their answer to the first question the Jaina thinkers are at one with the Naiyāyikas. Valid knowledge is a representation of objects as what they are and is therefore practically useful. It enables the knower to get what is good and to avoid what is bad as it represents the good as good and the bad as bad. Hence *the criterion of validity is practical utility.*

What follows from the above is only this that valid knowledge is practically fruitful. The Jainas stop here and do not proceed to commit the error of western pragmatists who equate validity with practical utility. To them practical efficiency is not only the criterion of validity but the sole constituent of validity. They declare that '*all valid knowledge is practically useful*' and from they conclude that '*all practically useful knowledge is valid*'. But in infering the latter from the former they violate the rules of conversion. An affirmative universal proposition cannot be converted into another affirmative universal one. Hence the proposition 'All practically useful knowledge is valid' which they get by converting 'All valid knowledge is practically useful' is a 'false converse' as Mr. Hopkins has named it.

As regards the other two questions concerning the origin and knowledge of validity the answers given by the Jainas are quite unique and distinctive. According to the Nyāya both validity and invalidity are extrinsically constituted and known; according to the

Sankhya both are intrinsic; according to the Mimamsa validity is intrinsic while invalidity is extrinsic, and according to the Bauddhas invalidity is intrinsic and validity is extrinsic

The Jaina view differs from all the four views stated above According to the Jainas in the case of familiar as well as unfamiliar knowledge both validity and invalidity are extrinsically constituted, they depend for their origin upon conditions external to and other than the conditions of knowledge As regards the awareness of validity or invalidity the Jainas point out that when we have a kind of knowledge which is accompanied by a feeling of familiarity or knownness its validity or invalidity is known intrinsically while in case of unfamiliar or new knowledge, both are known extrinsically We are to take the help of external conditions in order to know the validity or invalidity of such a kind of knowledge

After these preliminary observations let us enter into the inner details of the Jaina epistemology But in the coming discussions we shall deal elaborately only those aspects which are the unique and individual possessions of the Jaina philosophy and pass cursorily upon the rest because an elaborate treatment of the entire epistemology of the Jainas will require so much of space as we cannot afford here

The most fundamental classification of knowledge, according to the Jainas, is into immediate (प्रत्यक्ष) and mediate (परोक्ष) This two fold classification has some well marked advantages over other classifications These advantages have been very clearly pointed out by Pt. Sukhalaljee Sanghavī in his introduction to Hemcandra's Pramana Mimamsa

The Jaina classification says Pt Sukhalaljee, is free from the fallacy of over-lapping division The terms immediate and mediate are so much opposed to and distinct from one another that what comes under one class inevitably falls outside the other The second merit of this classification is that it is completely exhaustive Whatever may be the number of pramanas admitted by a philosopher, all the pramanas can be comprehended under the above two classes without any violence to the pramanas themselves It is a matter of common experience that a piece of knowledge is either

immediate or mediate, it must be one or the other; it cannot be both nor can it neither for there is nothing besides the two.

Besides, the Jaina classification has advantages over the classifications of pramānas made by other Indian philosophers It is superior to the cārvāka view in-as-much as it does not deny the validity of non-perceptual knowledges; it is superior to the Bauddha classification of pramānas into perception and inference in so far as it neither denies the validity of other pramānas like testimony etc. nor does it reduce them forcibly to inference. It is also more acceptable to the threefold classification of the Sānkhya, the fourfold classification of the Nyāya, the five-fold classification of the Prābhākaras, the six-fold classification of the Bhāttas etc inasmuch as it is not necessitated to deny any pramāna or to violently reduce it to the ones it admits in order to preserve the sanctity of its own pramānas whatever may be the number of pramānas, they are directly immediate or mediate The Jainas donot need either to deny or to effect a violent reduction because all the pramānas irresptively and naturally conform to the immediate-mediate classification.

The concepts of immediacy and mediacy have been accepted by almost all the philosophers of east and west but none has treated them with such logical aaccuracy and exactness as the Jainas Immediate knowledge means, in Jaina logic, clear knowledge: विशदं प्रत्यक्षम्, clearness here means illumination without any other intermediate knowledge. Hence *clear knowledge* means the awareness of an object without an intermediate knowledge. Immediate knowledge is, therefore, that in which ' the soul gets clear knowledge of an object without depending upon any other knowledge ". There is complete absence of dependence upon anything except the soul itself, it is a knowledge depending upon the soul alone. Such a kind of knowledge the soul comes to have when the obstructions to clear knowledge, are destroyed or removed.

Now if by immediate knowledge we mean a knowledge depending only upon the soul, then sense-perception cannot be regarded as immediate and the Jaina logicians to deny the immediate character of ordinary perceptual knowledge In sense-perception we have

the knowledge of an object through the mediation of senses, external or internal and hence it cannot be called really immediate though certainly it is nearer to immediacy than inference or testimony is Thus, logically speaking, sense perception is mediate in character Some of the western thinkers namely, the representationalists who hold that an object is known through a copy or mental representation of it and not directly, also deny the immediate character of such knowledge while the contemporary realists, the neo realists and the critical realists regard ordinary perception as the direct apprehension of the object The neo realist holds that in perceiving an object we perceive it directly, and though they recognise the mediation of senses they still regard it to be absolutely immediate The critical realists, on the other hand, point out that we donot perceive an object directly but through a mental content of it which is diaphanous Just as a man with spectacles sees objects through his eye-glasses But even these thinkers regard such knowledge to be purely immediate Here we point out that the position of these western realists is based upon a gross logical oversight and an incomplete realisation of the implications of the term 'immediate' or 'direct.'

Here a charge may be lavished against the Jaina logicians It can be said that the Jaina view is highly sophisticated as it relegates what is commonly taken to be immediate to the category of mediate knowledge But this charge is based upon an incomplete understanding of the Jaina epistemology The Jainas distinguish between what is really immediate (पारमार्थिक प्रत्यक्ष) and what is relatively or commonly taken to be, immediate (सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष) Under the better class is included the ordinary perceptual knowledge which is had through the mediation of the senses सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष is further classified into इन्द्रियप्रत्यक्ष and अतीन्द्रियप्रत्यक्ष which correspond respectively to the external and internal perceptions of the Naiyayikas and others

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष, that is, ordinary senseperception is charactrised by four stages At first we have a bare awarness of the object without any consciousness of its details and specific properties. This stage is called avagraha (अवग्रह) In the second stage, which is called iha (ईहा), there arises the attempt, the questioning to know

the particulars and specific details, its similarities with and differences from other objects. In the third stage, avāya (अवाय) "there is a definite finding of the particulars which we desired to know in the second stage. ' The second stage is merely an attempt to know the particulars, while the third stage consists of the ascertainment of these particulars, ईहितविशेष निर्णयोऽवायः."[1] The fourth stage, which is known as dhāraṇā (धारणा), is the last one in which we have a retention of what is ascertained in the third stage, स एव दृढतमाव-स्थापन्नो धारणा.

This analysis of sense-perception makes it clear why the Jaina logicians regard it to be mediate in character from the absolute point of view. ' As in the case of Sāṁvyarakārika Protyakṣa we recognise one knowledge after another (अवग्रह, ईहा, अवाय and धारणा) there are intermediate knowledges," and hence it cannot be called *clear* knowledge for clearness means 'bereft of intermediate know-ledge'. Thus clearness being the characteristic of Pratyakṣa Pramāṇa "we see that it cannot apply to Sāṁvyaraharika Protyakṣa where four stages of knowledge arise one after another."[2]

Pārmārthika Pratyakṣa is sub-divided into Sakala (सकल) and Vikala (विकल) Under the first we have kevala-jñāna which is, in words of Dr Radhakrisnan, "omniscience unlimited by space, time and objects and free from doubt, perversity and indefiniteness" It is the result of complete destruction of all Karmas that obstruct the natural consciousness of the soul. It is a state in which the soul shines in its pristine purity, under the class of *Vikala* we have Awadijñāna and Manaḥparyāyajñāna In these two there is a partial distruction of the Jñānāvāraṇīya Karmas. In Awadhi we have a direct apprehension of the objects which are too minute or too distant and obscure for ordinary perception. Manahparyāja is the result of destroying hatered, jealousy etc. and in this there is an immediate awareness of the thoughts and feelings of others, past and present.

---

1 Drarya-Saṃgraha, P 15.

2. Mr. S. C. Ghoshal's commentaris on the Paūksāmukhaṃ.

Mediate knowledge is distinguished from immediate knowledge by the fact that 'it is not clear by itself but has to depend upon some other kind of knowledge' for its clarity and existence as well There are five kinds of mediate knowledge Smarana (memory), Pratyabhijñāna (recognition) Tarka, Anumāna (deference), and Agama (testimony)

I shall not discuss these varieties of mediate, knowledge in this article due to lack of space The discussion of these topics may be taken up in another article in some other issue

---

HEROES OF THE JAIN LEGENDS.

By [illegible]
Dr. Harisatya Bhattacharya, M.A., B L, Ph. D.

(Contd. from Vol XIV No I pp. 8-21).

'Hurrah!' cried Śāmba, being well pleased at its taste, 'where have you got it?'

"The companion brought Śāmba and his followers to the Kādambari cave, where the princes drank heavily and lost their senses.

"At the foot of the hill was the sage Dvaipāyana, lost in deep meditation and unconscious of the outside world. Prince Śāmba owing to his drunken condition was unable to walk properly He, however, moved towards the sage as best as he could and pointing towards him cried out,—'Is this the man who will destroy our fair city?' Atonce, the Yādava princes, all mad with wine, ran towards him and began to kick him; throw stones at him and strike him mercilessly with weapons. Unable to bear the onslaught any longer, Dvaipāyana fell down apparently dead; the princes laughed merrily and returned to Dvārakā.

"Being informed of this sad occurrence, Krishna hastened to the forest with Balabhadra and asked for the sage's pardon, falling at his feet, In the agonies of death, Dvaipāyana, however, could not cool down his mind. He died saying, 'None in Dvāraka shall escape my wrath save and except you two. The penances I have so long practised shall be fuel to the fire of my vengeance. Fire shall burn,—Dvārakā shall be a heap of ashes,—all shall die,—and nothing shall be spared!'

"Krishna returned with a heavy heart and proclaimed the dire determination of the dying Dvaipāyana throughout his kingdom. He, however, advised his subjects to be pious in heart and deed. The people of Dvārakā accordingly began to do acts of morality with scrupulous care and Krishna used to go to the Raivataka hill to attend to the noble teachings of the omniscient Lord Nēminātha.

"On his death, Dvaipāyana re-incarnated as a demon. He recollected his vengeful vow and came to Dvārakā. At that time, however, Dvārakā was practically flooded with sentiments and acts of strict piety and the vicious demon was utterly unable to harm it in any way, in the least. Dvaipāyana, baffled in his purpose, stayed in Dvārakā for eleven long years. The Yādavas did not swerve an inch from the path of righteousness and consequently

the wicked Dvaipāyana too could not injure them during that period

'After the practice of strict self control for eleven years the people of Dvārakā used often to have such talks among themselves—

'We have been practising strict self control'

'O our austerities are too severe to be expressed in language We are practically anchorites practising penances'

'Do you know any thing about Dvaipāyana ?'

'O, he died long ago

He can't do any wrong to us, can he ?'

'How can he ? The severe penances that we have been practising these eleven years have destroyed all his powers

'Well then what is the good of our continuing to be pious any longer ?'

'We need not be so pious now

'It would not be bad then, if we drink a little wine from time to time

'Certainly not.

'And supposing we eat a little meat with it,—

O, absolutely harmless'

It is needless to state immorality spread in Dvārakā and thereby the wicked Dvaipāyana found an opportunity to wreak his old vengeance.

Suddenly the city of Dvārakā was startled by supernatural visitations Shooting of stars on all sides, rumblings of thunder in cloudless sky, earthquakes every now and them, rise of dreadful comets and stars,—what a sad day for Dvārakā ! The solar disc appeared perforated, there were showers of ashes,—and all unknown the sun and the moon were eclipsed Loud and weird laughters were heard in houses and jackals and other wild animals began to roam in the public streets fearless The citizens dreamt bad dreams and they found in those dreadful days the demon Dvaipāyana wandering throughout the country, accompanied by ghosts and spectres

'Wind blew furiously Logs of wood, dry grass and huge trees were thrown into Dvārakā by the storm The city was practically choked with dry grass and fuel Suddenly, there blew up a terrible fire—a fire that could not be extinguished in any way. Soon, Dvārakā was hopelessly on fire,—people could not save themselves

even by flying away. The dreadful Dvaipāyana by dint of his demoniac powers, overwhelmed the strength of all the Yādavas and threw them into that all-devouring fire. None was spared.

"When their dear city of Dvārakā was thus in the jaws of horrible ruin, the brothers, Rāma and Krishna were making their best attempts to save Basudēva, Dēvakī and Rōhinī. Basudēva, Dēvaki and Rōhini found sure destruction in the dreadful fire that was blazing so furiously on all sides. They cried out in bitterness,—whereupon Rāma and Krishna ran towards them and put them in a chariot as soon as possible. They hoped to save the parents in any way possible. But the demoniac powers of Dvaipāyana had already deprived the horses of all their strength and so they stood motionless Wild fire came to devour them,—where upon Balabhadra and Krishna began to draw the car themselves. Suddenly, the parts of the car broke down and it stopped. Fire surrounded Busudēva and the two brothers completely by this time and they cried out in dismay, 'O Rāma, O Krishna!' The dutiful brothers took the parent to the gates of Dvārakā somehow through the hungry fire;—so that, a little space off and they would be safe in a place outside the burning city! Suddenly, the gates of the city were violently closed before them and there appeared the terrible Dvaipāyana in front of them! Balabhadra ,took no notice of the demon and broke the gates of Dvārakā with a kick But the car would not move,—its wheels were hopelessly embedded in the earth. All hopes were gone by this time and Rāma and Krishna looked a piteous look towards Dvaipāyana. The stony heart of the wretch was not softened and he addressed them,—'What! Did I not tell you before that none would be spared except you two brothers? Don't you know that I have sacrificed my life-long goodness and patient practice of penances,—all for this?

"In tears, Krishna and Balabhadra approached the parents;—it was too much for them to separate themselves from their beloved father and mothers. 'Dearest sons,' said now the parents, 'go away now; let us have what is inevitable; just try to save yourselves; for, the renowned name of the Yadu family clings only to you two, now. We now find shelter in the Arhats, the Siddhas, the Sādhus and the Dharma, as proclaimed by the Arhats.' There showered down a

rain of solid fire attended with deafening sound,—and Basudēva and the mothers were burnt down to ashes in no time!

'For six months, the fair city burned,—after which it was nothing but a heap of ashes Then there was a great flood and no trace of Dvāraka was left

"The imperial overlord of Dvārakā was now a street beggar Krishna and Balabhadra now resolved to spend the remaining days of their lives under the protection of the Pāndavas, their cousins and fast friends With great difficulty they passed their way through a long forest. When in the Kousāmba wood, Krishna was troubled by extreme thirst. Balabhadra went in search of water when leaving him, the heart of Balabhadra however, was seized by some unknown fear 'Brother, said he accordingly 'take special care of yourself,—so long as I do not return' 'And, O gods of the forest, prayed his perturbed son, 'be pleased to protect my brother—who was once the lord of the world and the best of men! Alas! he is thirsty to day I go to bring water for him save him from all dangers till I come back!

'Balabhadra went away with a troubled heart

"His tongue was dry in extreme thirst and Krishna fell down under a tree He covered himself in a cloth and was soon fast asleep Only his red feet were visible and seeing them from a far a hunter threw a sharp arrow towards them, thinking that there was a deer there! At this terrible wound Krishna's sleep subsided and he became restless at the dreadful pain 'Who are you' cried he 'that killed me thus? I did not do you any harm 'I am Jarā kumāra', said the anxious hunter, 'Son of Basudēva I have been wandering in these dreadful forests for twelve long years lest my brother Krishna be killed by me I have never seen a man come here. Who are you? 'Come brother, come,' said Krishna in a trembling voice 'your dwelling in the forest for the last twelve years has been fruitless Jarā kumāra hastened towards Krishna and fell down unconscious at what he saw He cried out piteously when he regained his senses The high souled Krishna was dying fast He consoled Jara kumāra and said, 'Fly brother, fly soon There will be no end to your dangers, as soon as Balabhadra arrives here It may be that he will kill you in anger

"Jarā-kumāra went away.

"Seeing that his death was near, the son of Basudēva (Krishna) mentally bowed to the Lord Nēminātha and to the Siddhas. Suddenly, there blew a hard gale which broke the limbs of Krishna mercilessly. Troubled by thirst, grief, pain and storm, Krishna thought, 'None could defeat me, yet at last the wicked Dvaipāyana is the cause of so much misfortune. If I get him once, I would avenge myself fully.' So thinking, Krishna breathed his last

"When Balabhadra came to Krishna with water in a pot of lotus-leaves, he bacame almost mad in grief at the sad demise of his brother. He took him in his lap and cried,—O how bitterly! It seemed that the trees were standing still in their sympathy for him. The day passed away,—Rāma sat on with the dead brother on his lap,—he wept for the whole of the night. 'Brother,' said he in tears, when the day was dawning, 'look,—the sun is about to rise; how long will you sleep? We have to pass a long way yet'

"The poor Balabhadra lost his senses and roamed for six months with that lean, dry and decomposed corpse of Krishna on his shoulders, in forests, caverns and caves. Some times he would burst out in tears and sometimes he would dress that corpse in wild flowers.

"At last a celestial being came to him and convinced him that Krishna had died, that it was impossible to revive him and that there was no use in carrying his corpse in that way. So, he performed the last rites with regard to the dead body of Krishna and took to self-contemplation. The omniscient Lord Nēmi-nātha understood the state of Rāma's mind and was kind enough to send a sage to him without delay. Balabhadra was initiated into the order by him and began to practise the sacred vows. When he died, he ascended the heaven, known as the Brahma-lōka.

"In Brahma-lōka, however, the soul of Rāma—very dearly attached to his brother,—could not find peace. He began to search for Krishna. With the help of Avadhi-jnāna or clairvoyant knowledge, he saw through all places in the heavens. Nowhere, however, he could see Krishna. He turned to the worldly regions; there also, he did not find him. Sad at heart, Balabhadra began to search for

him in the infernal regions In the first hell, in the second hell too, —Krishna was nowhere To his great dismay however Balabhadra found him at last amidst the intolerable pains, in the dreadful region of the third hell In hot haste Balabhadra went down into the third hell and clasping his brother close told him, 'Now, brother, come with me,—why should you suffer so much pains? Krishna was now an infernal being his body slipped from the hold of Balabhadra, although he tried to keep him Free from the grasp of Balabhadra the limbs of Krishna were joined again With great difficulty, Krishna recognised his brother at last. He bowed to him and told him, 'I have got to suffer the infernal pains for many thousand years For, at the time of my death, my mind was not calm and cool but in an extremely angry mood Lord Nēmi also had predicted long ago that I would have to suffer infernal pains for a long, long time His words were not to be false

"Cannot these pains of yours be mitigated in any way? asked Balabhadra in tears

"My own acts said Krishna, have made these sufferings of mine inevitable Yet the Lord spoke of some hopes I shall be born in the human region again after staying in this hell for a long time Then I shall have the status of a Vaimānika god When the happy Utasarpini time will come round again I shall be born as the son of the king Jita śatru I shall be a Jina or conqueror in that life and shall be called *Amama* When I shall thus be a Tirathamkara, you will attain the final Liberation too

"Brother, said Balabhadra, 'will the memorable acts of ours be thus effaced from the earth?

"I have got to stay for a long time in this horrible hell, known as Bālukā prabhā said Krishna 'yet, in order to perpetuate our fame in the human world, you may give out there that Rāma and Krishna were imperishable and indestructible beings and that they could move wherever they would People will then remember us for ever and worship us in the belief that we were really the Divine Beings They will think that we were all powerful Gods, the creators, the preservers and the destroyers of this universe

In propagating their faith and religion Jains like the Christians had made Kannada the medium of preaching for the better understanding of the tenets by the people. Buddhists also may have taken to the same recourse in the propagation of their religion For, the inscriptions of Aśoka (अशोक) and Buddhist vihāras (विहार) have been found in Karnāṭaka But their literature in Kannaḍa has not been traced so far. From the fourth century B. C the advent of Jainism in the South down to the middle of the fourth century Kannaḍa language was not sufficiently developed as is evidenced by the inscription at Hālmidi (हाल्मिडि) It was not suited to preaching and writing. Jains had therefore to enrich it by borrowing words from Sanskṛta and Prākṛta. On the other hand they received into Prākṛta some Kannaḍa words under the name Deśi and they are given in Deśi-nāma-mālā and Pāiya-lacchi-nāma-mālā. Since this time Kannaḍa words have been ground-under three hands Tatsama, Tadbhava and Deśya. Tatsama words are pure Sanskṛta words and been current as if they were Kannaḍa ones. For example '—कमल, कुसुम, कलि, वीर, वाल, काव्य, वृत्त, पत्र, पाद, दन्त, पत्ति, लोह, आसन, नाटक, देव, पुरुष, संगम, चक्र, वाण, मोक्ष etc. Not that Kannaḍa had no equivalents for these but to suit the campu style and diction they gave a currency to such words. Tadbhavas are Sanskrta words deformed in accordance with Prākṛta phonetic system and made current into Kannada For example :—

Sanskrta	Tadbhava	Sanskrta	Tadbhava
क्रकच	करगस	श्री	सिरि
अर्ह	अरुह	रत्न	रतुन
अघ	अग्ग	वैशाख	वेसगे
स्थापन	तापणे	गाथा	गाहे
भिक्षा	विक्के	अक्षाल	पक्खाळ
क्षेपण	केवण	शष्कुलि	चक्कुलि
नतका	नग्गणि	विल्वपत्र	बेल्लवत्त
लेप्य	लेप्प	अन्याय	अन्नेय
प्रकृत	पागद	संस्कृत	सक्कद;
कौपीन	कोवण	वक्रद्वार	वंकदार;
घरुक	सरुग	अग्नि	अग्गि
व्यवहार	वेहार	चर्मकार	सम्मगार
कस्तूरि	कत्तुरि	कुस्तुंबुरु	कोत्तुंबरि

Sanskṛta	Tadbhava	Sanskṛta	Tadbhava
भांडागार	भंडार	मार्जार	मंजर
आर्य	अज्ज	यज्ञ	जन्न
त्वरित	तुरिहु	अमृत	अमट्टु
शुक्ति	सुत्ति	सत्वर	चत्तर

Names also have been corrupted For Example —

Sanskṛta	Apabhramśa	Sanskṛta	Apabhramsa
दुर्योधन	दुज्जोधन	विद्याधर	विज्जोन्दर
ब्रह्म	बम्म, बोम्म	यशोदा	जसोये
सौराष्ट्र	सोरठ	इन्द्र	इन्दिर
शशी	ससि	सरस्वती	सरसति

The following words are noteworthy —

Sanskṛta	Tadbhava	Deśya	Sanskṛta	Tadbhava	Deśya
आकाश	आगस	बान	परशु	परसु	कोटलि
पशु	पसु	आग्ळ	शशी	ससि	निगळ, पेरे
तारा	तारे	अरिल	शीत	सीत	रोडु, कुळिर
औषध	ओसध	मद्दु	भाषा	बासे	नालु
व्याध	बियध	बेड	स्तंभ	तम्भ	बडगु
भ्रमर	बमर	तुंबि	श्रेष्ठि	सेट्टि	पेरगु
मृत्यु	मिळ्तु	चडु	व्याघ्र	बग्ग	पुलि

They also coined such words as —

अगल (dish) भागरि (muni bhikṣā) मेल् mel (eat), edeyāḍu एडेयाडु (to take exercise), नडेयाडु (walking) तीरमे (completion) इल्लमे (nothing), तीर्दे (completion, end) असियेरकार (pys) अगायिले (harlot), काळार (cow, cattle), तगग (raised ground), बाड (vegetable) मजल (provision for journey) हेरिग (spy) बहुरुमे (indigestion), उहिगे (seal), गळिन्दिरे (derision) ओळ्गु (secret), घडिगु (piece) ननवि (memory), पमगु (famine) धर्ण्‍डे (deposit), मन्देवाल (intimacy), सुरग (a particle), मोसनि (harlot) मोत्तल् (sum, capital), रदयशिग (a cook) etc Some of these words are current even now among Jains in Karnātaka They have freely used Sanskṛta technical words in Jaina philosophy to make them better understood by all

They did not stop with the formation and coinage of words but gave to Kannaḍa grammar also a tinge of Sanskṛta form The intro duction of Sanskṛta alphabet, terminology, the seven oblique cases, the relative pronouns, compounds, sati saptami the passive voice

The modern principles of criticism cannot be applied to them inasmuch as the ideal of life was quite different in those days. Enjoyment, mental peace, and final beatitude were the only predominant factors in life and our poets have been successful in depicting them. Over and above this the Jain writers and poets have specialised themselves in painting tragic characters. Karna (कर्ण) of Pampa, Damitāri (दमितारि) of Ponna and Duryodhana (दुर्योधन) of Ranna are the examples of this art. They were poets of high order. With the lapse of a thousands years their works are as new. For their excellence they were patronised by चालुक्य and राष्ट्रकूट emperors and were given high sounding titles as कविचक्रवर्त्ति etc. चावुंडराय the author of त्रिपष्ठिलक्षणमहापुराण has borrowed the subject matter of his work from पूर्वपुराण and उत्तरपुराण of Jinasenācārya जिनसेनाचार्य and his disciple Gunabhadrācārya गुणभद्राचार्य respectively, and is found to quote some verses from त्रिपष्ठिशलाकापुरुषपुराण of कविपरमेश्वर. He was not only a literary artist but a soldier, a statesman and a great builder. He was the prime minister and commander in chief in the reign of गंग king राचमल्ल On the other hand he has got such titles as सम्यक्त्वरत्नाकर for his truthfulness and self sacrifice Śri Bāhubali श्रीबाहुबलि image at श्रवणबेलगोल was a work of his construction His त्रिपष्ठिलक्षणमहापुराण occupies a pre-eminent position as the first prose work in Kannada literature. Another prose work of the same period is really a piece of literary art The work goes by the name वड्डाराधने. Some say its author is रेवाकोट्याचार्य, some say it is शिवकोट्याचार्य and there are others who say that the author is unknown The controversy need not be tackled here The work contains short stories meant to convince people about the excellence of Jainism Though modern technique of short story cannot be applied for its critical estimation it has got all the excellences of जातककथा, देवी आराधना, धूर्ताख्यान etc. It is very unfortunate that Kannaḍigas (कन्नडिग) have been deprived of the knowledge of the life of such a great writer in their language.

We now come to two important poets of the beginning of the eleventh century namely Nāgacandra (नागचंद्र) known as अभिनवपंप and कंति a poetess. Nāgacandra had the titles भारतीकर्णपूर, कवितामनोहर साहित्यविद्याधर, चतुरकविजनास्थानरत्नप्रदीप, साहित्यसर्वज्ञ, सूक्तिमुक्तावतंस etc. These high sounding titles speak of his greatness as a poet. In his

Rāmāyana he has followed पउम चरियम् of विमलसूरि It is strange for a दिगम्बर Jain नागचद्र to have followed a श्वेतांबर Jain poet. In this work the tragic character of रावण has been depicted with great skill, and psychological effect The रामायण is an outstanding work of the time He built a temple to Mallinātha Jina at Bijapur (विजयपुर) and wrote his Mallinātha purāna (मल्लिनाथपुराण) Nāgacandra himself has admitted the poetical superiority of कंति A work known as कंतिहंपरसमस्ये is available Beyond this it is not known what books have been written by her

The other poets of note and outstanding merit, their date and works are given in the table below

Poets	Date	Works	
कर्णपार्य	1140	नेमिनाथपुराण	(Poetry)
नेमिचद्र	1170	लीलावति, अर्धनेमिपुराण	"
अग्गळ	1189	चद्रप्रभपुराण	,
बधुवर्म	1200	हरिवंशाभ्युदय, जीवसबोधने	"
आचण्ण	1195	वर्धमानपुराण	"
पार्श्वपडित	1205	पार्श्वनाथपुराण	"
जन्न	1209	अनतनाथपुराण, यशोधर चरिते	"
शिशुमायण	1233	त्रिपुरदहनसांगत्य, अजनाचरिते	"
गुणवर्म	1235	पुष्पदतपुराण, चद्रनाथाष्टक	"
कमलभव	"	शातीश्वरपुराण	"
आण्डय्य	"	कब्बिगर काव	"
कुमुदेन्दु	1275	रामायण (षट्पदि)	
हस्तिमल्ल	1290	आदिपुराण (Prose)	

Karnapārya flourished in Kolhapur territory under the patronage of Silāhāra (शिलाहार) गटराजित्य His work नेमिनाथपुराण is [illegible] in classical work of outstanding merit. Nemicandra's लीलावति is a fiction श्रृगार is the predominant रस Though the story is very short the work has enormously increased by lengthy descriptions of scenes and sentiments But he is true to his principle that a poet notices what is impossible for the sun to see and a poet's power of creation is unsurpassing and unlimited Such a critic and a poet must be a man of great merit and achievements The titles [illegible] श्रृगारकारागृह, विद्यावधूवल्लभ, सुकविकठाभरण, [illegible] चक्रवर्त्ति etc he bears are befitting [illegible] merits and poetical skill, [illegible] नेमिनाथपुराण is unfinished [illegible]

कमलभव are poets of equal merit. In both of his works Janna जन्न not shown any play of imagination as has been expressed by himself, but has tried with success at simplicity. His यशोधरचरिते preaching as it does अहिंसा will always remain a real work of art treating secular as well as religious side of the subject. Both of his works are famous as classic of great merit. It is no wonder therefore if the ruling prince of Hoysala Yādava (होय्सळ-यादव) dynasty were to decorate him with the title कविचक्रवर्तिःसाहित्यरत्नाकर, विनेयजनमुखतिलक, राजविद्वत्सभाकलहंस, कविवृंदारकवासव etc. are his other titles.

Aṇḍayya (अंडय्य) has written a mythical story of कामदहन in the form of a खंडकाव्य. He has given it the colour of a fiction. This short poem has brought to him all the fame of a great poet It evinces his love and zeal for his language and country.

शिशुमायण and केमुदेन्दु have gone out of the way and taken to Sāngatya (सांगत्य) and Ṣaṭpadi (षट्पदि) metres to suit the popular taste and to tone down the high flown Campu (चंपु) style with a clear idea of bringing pauranic literature within the reach of the popular understanding.

All the poets mentioned in the above table were masters of three languages Sanskṛta Prākṛta and Kannada and as such wrote to please the pandits only. Their writings were full of Sanskṛta words. A complaint that Kannaḍa poetical works cannot be composed without the use of Sanskṛta words was lodged at the door of the poets. Andayya took up the challenge and wrote in pure Kannaḍa. His attempt may have been praiseworthy. But the ardent desire of the general public to know and learn was not satisfied by any of these classical poets and writers. The neglect of the general public kindled a fire which remained smouldering for a long time untill at last it broke out in the form of religious and literary revolution after the middle of the twelfth century. It was led by बसव who established वीरशैव faith and preached his philosophy in his sayings (वचन) written in simple style to be understood by all. The signs of the revolution were noticed by the classical writers as is hinted at by नयसेन in his धर्मामृत about 1112 A. D. He revolted against the Sanskrtised style and wrote his own work in pure and simple Kannḍa. Knowing this state of things they did not follow any pre-

meditated plan to avert the calamity and to meet the popular demand but left it to its own fate which ultimately provéd detrimental to the interest of the Jains and their religion However, individual writers had to face this and bring round the public to put faith in Jainism by their propagandistic works The poets and writers working in this field and their works are given in the table below

Poets	Date	Works
ब्रह्मशिव	1125	समयपरीक्षे, त्रैलोक्यचूडामणिस्तोत्र
वीरनन्दि	1153	आचारसार and its commentary in Kannada
वृत्तविलास	1170	Commentaries to प्राभृतत्रय, तत्त्वार्थ and परमात्मप्रकाशिके
माघनन्दि	1260	शास्त्रसारसमुच्चय
नागराज	1300	पुण्यास्रव
बालचंद्र	1300	Commentary to मोक्षप्राभृत of कोंडकुन्दाचार्य

Brahmaśiva's समयपरीक्षे contains the treatment of आप्तागम and अनाप्तागम धर्म He further points out the defects occurring in Hindu Purānas and Dharma sastras and proves that Jainism is the best religion But his work is in classical campu (चंपु) form It was not therefore fit to appeal to the popular mind It was overshooting its mark Vrttavilāsa s (वृत्तविलास) धर्मपरीक्षे also is of the same type It is the rendering of (संस्कृत) धर्मपरीक्षे of अमितगति into Kannada and चंपु form

Māghanandi s (माघनन्दि) शास्त्रसारसमुच्चय treats the Jain philosophy in details It is in the form of (संस्कृत) सूत्र s and Kannada commentary copiously illustrated from Kannada Jain puranas especially from आदिपुराण of पंप

These sporadic efforts were not sufficient to meet the popular demand and to quench their thirst for knowledge For language and literature must move on with the time They must change day by day otherwise i e they will stagnate This principle was not taken notice of by the lovers of classical literature such as मल्लिकार्जुन 1245 नागवर्म II 1145 and केशिराज 1260 To impress the beauty of classical literature on the popular mind मल्लिकार्जुन prepared his सूक्तिसुधार्णव an anthology selecting beautiful portions from classical works of poets irrespective of their religious faith This also was not sufficient to convince the public. नागवर्म has written his काव्यावलोकन treating therein grammar, alankāras rasas and poetic conventions and केशिराज

in his शब्दमणिदर्पण has amplified the grammatic portion. This शब्दमणिदर्पण has been a standard Kannada grammar to this day. The efforts of all these were of no avail. For, within a period of a hundred years after them षट्पदि age of simpler style and language was ushered in and चंपु lost its ground.

The authors on scientific subjects, their dates and works have been given in the following tables:

Author	Date	Works
श्रीधराचार्य	1049	जातकतिलक, a work on फलितज्योतिष
राजादित्य	1120	व्यवहारगणित, क्षेत्रगणित, लीलावति, चित्रहसुगे, जैनगणितसूत्रटीकोदाहरण—all mathematical works
कीर्तिवर्म	1125	गोवैद्य
जगछ्ळसोमनाथ	1150	कर्णाटक-कल्याणकारक—a rendering of पूज्यपाद's कल्याणकारक
रट्टकवि	1300	रट्टमत, a work on फलितज्योतिष. Some of these are in चंपु form.

I request the readers not to misunderstand me by the mention of a few authors and saying too much about them I request them to believe that I have selected some representative authors from each group to serve the purpose of this short paper. The number of poets and writers upto the end of the thirteenth century is very large and therefore I had to take recourse to this method of selection

From what has been said it is clear that Jains have built up and enriched the Kannada language They have supplied to the Kannada reading public classical poetry, fiction, short-story, works on philosophy and science for every day use They have neglected drama But the dramatic merit and skill can be noticed in गदायुद्ध etc. They were fond of fine arts such as music, dancing, sculpture architecture and painting as can be noticed in all their purāṇas In short They have left for us Kannadigas a rich legacy of literary and scientific works of which each one is proud

---

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. XIV, 1949

Edited by
Prof A N Upadhya M A, D Litt
Prof G Khushal Jain, M A Sahityacharya
B Kamta Prasad Jain M R A S D L
Pt Nemi Chandra Jain Shastri, Jyotishacharya

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
ARRAH BIHAR INDIA

Annual Subscription
Inland Rs 3 Foreign 4s 8d Single Copy Rs 1/8

CONTENTS. Vol XIV

Pages

No I.

No II